वेदान्तदेशिक कृत संकल्पसूर्योदय का साहित्यिक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी०फिल्० उपाधि हेतु

प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

अनुसन्धाता

कमल देव शर्मा

एम० ए०

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

दिग्दर्शक

डॉ० राम किशोर शास्त्री

उपाचार्य

संस्कृत विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

संस्कृत-विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

२००२

मेरा यह शोध कार्य

"पूजनीया स्व0 माताजी को सादर समर्पित"

प्राक्कथन

संस्कृत वाङ्मय के जिन महाकवियों ने काव्य के अतिरिक्त दर्शन के विविध पक्षों को भी अपनी अतुलनीय प्रतिभा से महिमामण्डित किया, उनमें से अनन्यतम हैं- सर्वतन्त्रस्वतन्त्र महाकवि वेदान्तदेशिक, जिन्हें 'वेङ्कटनाथ' के नाम से भी जाना जाता है। उन्ही की अमर कृति है 'संकल्पसूर्योदय' जो प्रतीक नाटक का न केवल चूडान्त निदर्शन है अपितु साहित्य एवं दर्शन का अभूतपूर्व सङ्गम भी है। जहां अवगाहन की सत्प्रेरणा मुझे मेरे गुरूवर्य व्याकरण, दर्शन एवं साहित्यशास्त्राकाश के प्रखर भास्कर **वरिष्ठ उपाचार्य डा० रामकिशोर शास्त्री, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद** से मिली जिनके विद्वत्तापूर्ण पर्यवेक्षण में यह शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत कर पा रहा हूँ। विश्वविद्यालयीय शिक्षा के शैशवकाल से ही आदरणीय गुरूवर्य पुत्रवत् स्नेह के साथ यथावसर उचित सलाह एवं निर्देश देते हुए मेरा उत्साह बर्द्धन करते रहे हैं। अत उसके लिए किसी प्रकार का कृतज्ञता प्रकाशन निश्चय ही उस सहज स्नेह के गौरव का विघातक होगा।

गुरूकृपा और अपने परिश्रम के बल पर विषय को समझने और उसको यथावत् निबद्ध करने का प्रयास मैंने किया है। मेरा यह प्रयास कितना सफल है? यह तो मैं नहीं कह सकता, किन्तु इसका नीर-क्षीर-विवेक स्वयं वही सुधीजन करेगें जिनके समक्ष यह शोध-प्रबन्ध सादर प्रस्तुत है।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के वर्तमान् **संस्कृत विभागाध्यक्ष प्रो० मृदुला त्रिपाठी** जी के प्रति मैं कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिनका स्नेह मेरे लिए सर्वदा सम्बल रहा है।

शोधकार्य में प्रवृत्त होने पर मैं अपने गुरूजनों

प्रो0 सुरेश चन्द्र पाण्डेय, प्रो0 हरिशंकर त्रिपाठी एवं प्रो0 चन्द्र भूषण मिश्र के प्रति श्रद्धावनत हूँ, जिनसे मुझे समय-समय पर अपेक्षित सहायता एवं प्रेरणा मिलती रही है।

इसके अतिरिक्त विभाग के प्राध्यापकगण डा0 रंजना तिवारी, डा0 किश्वर जबीं नसरीन, डा0 मंजुला जायसवाल एवं डा0 उमाकान्त यादव आदि के सुझावों, निर्देशनों और सहायता के लिए मैं सबका ऋणी हूँ।

मातृऋण एवं पितृऋण से कोई भी व्यक्ति अनृण नहीं हो सकता। जिस ममतामयी माँ (स्वर्गीया) सुहासनी शर्मा एवं वात्सल्य सागर पिता श्री बृज बिहारी शर्मा के लाड-प्यार से जन्म से लेकर अद्यावधि पला-बढा और जिन्होंने जीवन के अनेक झंझावतो को सहन करते हुए न केवल मेरी खुशी में ही अपने सुखों का अनुभव किया अपितु उच्च अध्ययन एवं सुचरित्र के लिए सदैव सत्प्रेरणा प्रदान किया, माता-पिता से तो जन्म-जन्मान्तर में भी ऋणमुक्त होना असंभव है।

अपनी जीवनसंगिनी श्रीमती इन्दु शर्मा को साधुवाद देना मैं अपना पुनीत कर्तव्य समझता हूँ, जिन्होंने मुझे गृहस्थी के जंजाल से मुक्त रखते हुए शोधकार्य की पूर्णता में निरन्तर प्रोत्साहित किया। पुत्री सृष्टि और पुत्र प्रतीक को मैं कैसे भूल सकता हूँ जिसकी शैशवकालिक सुलभ चंचलताओं ने मुझमें नित नवीन स्फूर्ति का संचार किया।

अग्रजतुल्य डा0 अरविन्द मिश्र-प्रवक्ता संस्कृत, आशुतोष द्विवेदी-उपजिलाधिकारी, रविराज प्रताप मल्ल-व्यापारकर अधिकारी, अनिल पाण्डेय-पुलिस उपनिरीक्षक के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ, जिनका भ्रातृ-तुल्य स्नेह

अनवरत मेरे उत्साह का संवर्द्धक रहा है।

विभाग के शोधच्छात्र *अरविन्द शुक्ल, ललित किशोर मिश्र, श्रीनिवास पाण्डेय, सरवरे आलम, नीरज शुक्ल* के भी सतत उत्साहवर्धन हेतु मैं आत्मनाकृतज्ञ हूँ। विभाग की ही *शोधच्छात्रा अम्बेश्वरी देवी* ने भी मुझे अजस्र प्रेरणा प्रदान की जिसके लिए आभार प्रकट करता हूँ। अपने *सहपाठी अखिलेन्द्र कुमार सिंह, राकेश रंजन चौबे, सोमेश श्रीवास्तव, शशाङ्क भूषण पाण्डेय 'चंचल,* आदि को मैं शोध-प्रबन्ध पूर्ण करने में सहयोग देने के लिए आभार प्रकट करता हूँ।

सीता कम्प्यूटर अकेडमी के सचालक श्री *भूदेव मिश्र* को मैं हार्दिक धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने अपने टीम के सदस्यों *प्रदीप कुमार, विजय मिश्र (मंयक),* आदि के तकनीकी ज्ञान का उपयोग करके प्रस्तुत शोध- प्रबन्ध के टङ्कण को सफल बनाया है।

अन्य समस्त ज्ञाताज्ञात मित्रजनों को यथोचित साधुवाद प्रदान करता हुआ मैं इस शोध-प्रबन्ध को नीर-क्षीर-विवेक हेतु प्रस्तुत करने का कर्तव्य निभा रहा हूँ।

अन्त में सर्वशक्मिान् ईश्वर के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ जिसकी अनुकम्पा से ही सभी कार्य सम्पन्न होते हैं।

कार्तिक पूर्णिमा

वि०सं० २०५९

विदुषांवशंवद

कमल देव शर्मा

कमल देव शर्मा

—: विषयानुक्रमणिका :—

प्रथम अध्याय :-

द्वितीय अध्याय :-

प्रथम अध्याय

श्री वेदान्तदेशिक : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

1. व्यक्तित्व
2. कृतित्व
3. वेदान्तदेशिक की वैदुष्यता

   (क) वेद

   (ख) इतिहास पुराण

   (ग) धर्मशास्त्र

   (घ) नाट्यशास्त्र (संगीत शास्त्र)

   (ङ) कामशास्त्र

   (च) ज्योतिष शास्त्र

श्री वेदान्तदेशिक : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

1. व्यक्तित्व

बहिर्साक्ष्यों द्वारा श्री वेदान्तदेशिक के जीवन पर प्रकाश डालने के पूर्व यह आवश्यक हो जाता है कि उनके काव्यों में उपलब्ध संकेतो के आधार पर उनका परिचय प्राप्त किया जाय। ये ग्रन्थ श्री वेदान्तदेशिक की स्वरचित रचनायें हैं, अतः प्रमाणिकता की दृष्टि से इन्हें महत्त्वपूर्ण स्थान देना आवश्यक है।

संकल्पसूर्योदय के अनुसार वेदान्तदेशिक का जन्म विश्वामित्र गोत्र के ब्राह्मण परिवार में हुआ था[1]। उन्होंने इस वंश में जन्म प्राप्त करने का उल्लेख बड़े गर्व के साथ किया है[2], क्योंकि विश्वामित्र ही सावित्री (गायत्री) मंत्र के द्रष्टा हैं[3]। उनसे ही सावित्री का प्रादुर्भाव हुआ है अतः सावित्री उनकी अनन्यगोत्रा सिद्ध होती है[4]। उनके पितामह का नाम पुण्डरीकाक्ष था। पुण्डरीकाक्ष जी सोमयज्ञ के विशिष्ट सम्पादक के रूप में प्रसिद्ध थे[5]। पुण्डरीकाक्ष के पिता श्री अनन्त सूरि (अनन्ताचार्य) थे, जिन्हें वेदान्तदेशिक ने गुणों का भण्डार कहा[6] है। वेदान्तदेशिक ने स्वयं अपने को 'विष्णुघण्टावतार' कहा है[7]।

वेन्दान्त देशिक प्रणीत ग्रन्थों के आधार पर उनका जन्म भाद्रपद शुक्ल दशमी (आश्विन विजयादशमी) कलि संवत् 4369, शकाब्द 1190 या 1268 में ई. में कांची (कांजीवरम) में हुआ था। इसी तिथि को सभी ने माना है। साक्ष्यों के आधार पर इस तिथि की प्रमाणिकता भी सिद्ध है। उनकी माता का नाम 'तोतारम्मा' या 'तोताद्रयम्बा' था। तोतारम्मा विशिष्टाद्वैत के विद्वान् ऐतरेय रामानुजाचार्य की भगिनी तथा पद्मनाभाचार्य की पुत्री थी। इस प्रकार वेदान्तदेशिक

का जन्म जिस कुल में हुआ था वह कुल विशिष्टाद्वैत दर्शन के लिए प्रख्यात था।

वेदान्तदेशिक के जन्म के विषय में एक कथा प्रचलित है कि उनके पिता ने एक रात स्वप्न देखा कि तिरूपति देवस्थानम् के देव श्री वेंकटेश्वर ने उन्हें पत्नी के साथ विरूपति जाकर उपासना करने का आदेश दिया है। पति-पत्नी दोनों तिरूपति के लिए प्रस्थान किया। तिरूपति में वेदान्तदेशिक की माता ने स्वप्न देखा कि भगवान् वेंकटेश्वर ने एक बालक के रूप में प्रकट होकर उन्हें एक घण्टा प्रदान किया और पुत्ररूप में उसके अवतरित होने का वरदान दिया है। उनकी माता ने तेजोरूप में उसे अपने गर्भ में प्रवेश करते हुए देखा। दूसरे दिन प्रातः काल तिरूपति के श्री वेंकटेश्वर मन्दिर में घण्टा नहीं था। वेदान्तदेशिक के माता-पिता द्वारा स्वप्न का वर्णन करने पर तथा प्रधान पूजारी को भी भगवत्-कृपा से इस बात के ज्ञात होने के कारण अन्य पुजारियों या यात्रियों पर चोरी का सन्देह नहीं किया गया। श्री वेंकटेश्वर देव स्थानम् तिरूपति में आज भी घण्टे का न होना इस वृतान्त का संकेत करता है। तिरूपति से वापस आने के बाद इनकी माता बारह वर्ष तक गर्भ धारण किये रही। उसके बाद वेदान्तदेशिक का जन्म हुआ। भगवान् वेंकटेश्वर की कृपाफल समझकर माता-पिता ने इनका नाम 'वेंकटनाथ' रखा[8]। इसके बाद इन्होंनें 'वेदान्ताचार्य' और वेदान्तदेशिक नाम से भी प्रसिद्धि प्राप्त की। इस कथा की सत्यता के विषय में तो कुछ नहीं कहा जा सकता, परन्तु स्वयं वेदान्तदेशिक तथा आचार्य परम्परा द्वारा स्वीकृति प्राप्त होने के कारण इस का महत्त्व पूर्ण स्थान है।

वेदान्तदेशिक के साथ "होनहार वीरवान के होत चिकनेपात" अक्षरशः लागू होता है। उनकी आसाधारण प्रतिभा का दर्शन बाल्यकाल से ही होने लगा था। उनके बचपन की एक घटना से इस पर अधिक प्रकाश पड़ता है। वेदान्तदेशिक जब 6 वर्ष के ही थे तो एक बार उपने मामा आत्रेय रामानुजाचार्य जी के साथ एक सभा में गये। इस सभा में बड़े-बड़े विद्वान् विराजमान् थे। वहां वात्स्य वरदाचार्य या नडादूर् अम्माल का रामानुज दर्शन पर प्रवचन चल रहा था। वेदान्त देशिक के पहुँचते ही सभी का ध्यान इनकी ओर (अल्पावस्था होने के कारण) आकृष्ट हो गया। प्रवचन का क्रम भंग हो गया। फिर प्रवचन प्रारम्भ करने के लिए यह सोचने पर कि किस स्थल पर प्रवचन हो रहा था न तो प्रवचनकर्ता स्मरण कर सके और न विद्वान् श्रोतागण ही स्मरण करा सके। बालक वेदान्तदेशिक ने उस स्थल का निर्देश कर दिया। इस पर प्रसन्न होकर श्री वात्स्यवरदाचार्य ने वत्स,

प्रतिष्ठापित वेदान्तः प्रति क्षिप्तबहिर्मतः।
भूयास्त्रै विद्यमान्यस्त्वं भूरिकल्याण भाजनम्।।

इत्यादि कहकर मंगलाशासन किया। इस वृत्तान्त को वेदान्तदेशिक ने संकल्पसूर्योदय नाटक में शिष्य के प्रति गुरू के आर्शीवाद के रूप में व्यक्त किया है[१]।

वेदान्तदेशिक विलक्षण प्रतिभा के थे। इसे देखकर उनके मामा रामानुजाचार्य ने इन्हें अन्य विषयों के साथ-साथ रामानुज-दर्शन के गूढ़ तत्त्वों से भी परिचय कराया। वेदान्त देशिक 20 वर्ष की अवस्था तक अध्ययनरत रहे। इस काल में उन्होंने अनेक प्रकार के

विषयों का अध्ययन किया। इसका वर्णन वेदान्तदेशिक ने स्वयं किया है[10]। उन्होंने पूर्वमीमांसा उत्तर मीमांसा आदि का पाण्डित्य पूर्ण अध्ययन किया था[11]। सभाओं में अन्होंने कई बार चार्वाक, बौद्धादि मतावलम्बियों को मात दिया था[12]। अपनी प्रमिभा के विषय में उन्होंने लिखा है कि गुरुकृपा से एक बार जो सुन लेते थे, वह जीवन भर विस्मृत नहीं होता था। कोई उसपर कितना भी तर्क–वितर्क करके दोष स्थापित करने का प्रयत्न करे पर पलक झपकते ही उसे समाप्त कर देते थे[13]। रामानुज दर्शन का प्रचार उन्होंने जीवन पर्यन्त किया। संकल्पसूर्योदय की रचना करने के पहले वे तीस बार श्रीभाष्य का अध्ययन कर चुके थे[14]।

श्री वेदान्तदेशिक के समावर्तन संस्कार के अनन्तर छठवें वर्ष में उनके मामा एवं शिक्षक श्री आत्रेय रामानुजाचार्य का स्वर्गवास हो गया। कुछ दिन तक वेदान्तदेशिक कांची में ही श्रीभाष्यादि शारीरिक शास्त्रों का अध्ययन किया। पुनः गारुड मन्त्र की सिद्धि प्राप्त करने के लिए वेदान्तदेशिक कांची से अहीन्द्रपुर नामक स्थान पर चले गये। गारुडमन्त्र के निरन्तर जप से प्रसन्न गरुड द्वारा हयग्रीव मन्त्र का उपदेश किये जाने पर वे हयग्रीव मन्त्र के अनुसन्धान में लग गये। गरुड द्वारा प्रदत्त हयग्रीव भगवान् की अर्चामूर्ति की अचर्ना करते हुए उन्होंने कुछ समय व्यतीत किया। एक दिन प्रसन्न हयवदन ने उन्हें प्रतिपक्षी के सिद्धान्तों का खण्डन करने में समर्थ सकल शास्त्रों में पाण्डित्य एवं शास्त्रार्थ सभाओं में विजयशील पराक्रम प्रदान करके अनुग्रहीत किया। ऐसा प्रख्यात है। इसी समय वेदान्तदेशिक ने देवनायक पंचाशत, गोपालविंशति तथा कुछ द्रविड प्रबन्धों की रचना की। अहीन्द्रपुर से कांची आते समय मार्ग में 'देहलीश स्तुति' एवं

'सच्चरित्र रक्षा' की रचना की। कांची पहुँचकर वे वेदान्त के प्रवचन में रत हो गये। कई वर्षो तक वे कांची में ही निवास करते रहे। इसी दौरान वेदान्तदेशिक ने वरदराज पंचाशत तथा अन्य अनेक संस्कृत द्रविड प्रबन्धों की रचना की।

अध्ययन के अनन्तर वेदान्तदेशिक ने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया। परम्परा से पता चलता है कि उन्होंने तिरुमंगलै नामक स्त्री से विवाह किया। उनका गृहस्थाश्रम बड़ा ही सुखमय था। अड़तालीस वर्ष की अवस्था में कलिसंवत् 4417 के श्रावण मास में रोहिणी नक्षत्र (भाद्रपद कृष्णाष्टमी) सन् 1316 ई. में इनके पुत्र वरदनाथ या कुमार वेदान्ताचार्य का जन्म हुआ।

वेदान्तदेशिक उत्तर भारत के तीर्थ क्षेत्रों की यात्रा पर निकल पड़ते हैं जहां सर्वप्रथम वे वेंकटाद्रि (तिरुपति) आये। यहां पहुँचकर वे 'दयाशतक' की रचना करके श्रीनिवास भगवान् की सेवा की। तिरुपति एवं वहां का वातावरण उनको बहुत आकर्षित किया। वेदान्तदेशिक ने अपने ग्रंथ 'संकल्पसूर्योदय' तथा 'हंस संदेश' में उत्तर भारत के अनेक स्थानों का विवरण दिया है। उन्होंने वाराणसी को अवैदिक यवनतुरुष्काद्य भिन्न जातीयदेशधिपति संनिधानलुप्तशोकाचार[15] आदि कहा है। उन्होंने अयोध्या को पाषण्डिमण्डल प्रचारखण्डितकार्तयुगधर्म तथा निवृत्तिधर्मनिष्ठ अनिष्ठुर बुद्धिवालों से परित्यक्त कहा है[16]। उन्होंने नेपाल, मथुरा, अवन्ती, द्वारिका आदि अनेक उत्तर भारतीय नगरों का वर्णन इन ग्रंथों में किया है। अनेक नगरों का वर्णन जहाँ उनके भौगोलिक ज्ञान के विषय में सूचित करता है वही उनकी सामाजिक एवं भौगोलिक स्थिति का वर्णन वेदान्तदेशिक के आवागमन को भी पुष्ट करता है। वेदान्तदेशिक ने वदरिकाश्रम[17] का वर्णन किया।

इससे स्पष्ट होता है कि उन्होंने समस्त उत्तर भारत के तीर्थ क्षेत्रों की यात्रा की थी। उन्होंने नेपाल[18] और हिमालय[19] का भी वर्णन बड़ा ही रोचक पूर्ण ढंग से किया है।

वेदान्तदेशिक ने दक्षिण भारत की भी यात्रा की जहाँ उन्होंने दक्षिण के अनेक तीर्थो का भ्रमण किया। अहीन्द्रपुर, तिरूपति और श्रीरंगम में उन्होंने निवास ही किया था। कांची उनकी जन्मस्थली तथा कर्मस्थली ही रही है। इसके अतिरिक्त यादवाचल[20], मलय[21], ताम्रपर्णी[22], पाण्डय[23] देश, वेंकटाद्रि[24], वृषाचल[25] आदि का वर्ण किया है। निश्चय ही श्री वेदान्तदेशिक इन स्थानों में जाने के बाद ही स्वाभाविक एवं मनोहारी वर्णन करने में समर्थ हुए हैं।

वेदान्तदेशिक ने समस्त भारत की यात्रा करने के बाद कांची में निवास किया। इसी समय इनको पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। जिनका नाम वरदनाथ था। उन्होंने अपने पुत्र को वेदादि की शिक्षा दी।

कुछ समय के बाद कुछ अद्वैत वादी विद्वानों ने श्रीरंगम में आकर विशिष्टाद्वैत दर्शन पर प्रश्न किया, वहां के उपस्थित विद्वान् इन प्रश्नों का उत्तर न दे सके। वेदान्त के क्षेत्र में प्रख्यात श्री वेदान्तदेशिक को कांची से पण्डितों ने बुलाया। उन्होंने श्रीरंगम पहुँचकर न केवल उनके प्रश्नों का समाधान किया अपितु उनके सिद्धान्तों पर सौ आक्षेप लगाया जो 'शतदूषणी' नामक ग्रंथ के रूप में वर्णित है।

इसके अनन्तर श्री वेदान्तदेशिक ने पुनः श्री भाष्य के अध्यापन एवं विशिष्टाद्वैत दर्शन के प्रचार-प्रसार में अपने को लगाया। उन्होंने संस्कृत तमिल, एवं मणिप्रवाल शैली में अनेक ग्रंथों की रचना की। विशिष्टाद्वैतवादी दर्शन के आचार्य के रूप में उनकी कीर्ति चारोतरफ़ फैल गयी।

ऐतिहासिक रूप से विदित है कि दुष्टजन हमेशा से सज्जनों को बिना कारण परेशान करते रहे हैं। वेदान्त देशिक भी उन दुष्ट जनों से अछुते न रह सके। उनसे ईर्ष्या रखने वाले अनेक तरह से उन्हें अपमानित करने का प्रयत्न कियें, पर भगवान् की दया से सब निष्फल होते गये। लक्ष्मणाचार्य के अनुयायियों ने उन्हें श्रीरंगम छोड़ने के लिय बाध्य किया। इस कारण वेदान्तदेशिक श्रीरंगम छोड़कर वहां से थोड़ी दूर सत्याकाल (सत्यमंगलम्) नामक ग्राम में रहने लगे। बाद में ईर्ष्यालुओं को अपने किये पर पश्चाताप हुआ। उनके आग्रह पूर्वक कहने पर वेदान्तदेशिक पुनः आकर श्रीरंगम में रहने लगे।

कुछ कालकेपश्चात् श्रीरंगम पर यवनों का आक्रमण हुआ, जिससे मन्दिर के आचार्यों तथा उनके प्रधान सुदर्शनाचार्य ने वेदान्तदेशिक को बुलाया। उन्होंने अपने दो पुत्रों तथा श्रीभाष्य की 'श्रुत प्रकाशिका' व्याख्या को उनके हाथों में सौप दिया। वेदान्तदेशिक वहां से सत्याकाल ग्राम चले आये और पुनः यादवाचल पर जाकर 'श्रुत प्रकाशिका' तथा विशिष्टाद्वैत दर्शन के प्रचार में लग गयें। पुनः श्रीरंगम में शान्ति स्थापित होने के बाद वहीं आकर रहने लगे।

इस प्रकार वेदान्तदेशिक विशिष्टाद्वैत दर्शन का प्रचार-प्रसार करते हुए, भगवत् कार्य में संग्लग्न रहते हुए सन् 1369 ई. के 14 नवम्बर, कलि संवत् 4470 के कार्तिक मास में 101 वर्ष की आयु में स्वर्गारोहण किया।

२. श्री वेदान्तदेशिक की रचनाएंः-

श्री वेदान्तदेशिक ने अनेक ग्रंथों का प्रणयन किया है। इन्होंने अनेक भाषा में ग्रंथों की रचना की है। भाषा की दृष्टि से इनके

द्वारा रचित ग्रंथों को चार भागों में बाँट सकते हैं। इन्होंने संस्कृत, प्राकृत, तमिल एवं मणिप्रवाल भाषा में रचना की है। इनके द्वारा रचित ग्रंथों को विषय की दृष्टि से छः भागों में विभक्त कर सकते हैं। वेदान्त देशिक द्वारा लिखे गये ग्रंथों की संख्या देना बड़ा ही दुरूह कार्य है। फिर भी संस्कृत भाषा में लिखे गये इनके ग्रंथो की संख्या 62, प्राकृत में1,तमिलभाषा में 18 तथा मणिप्रवाल भाषा में रचित रचनाओं की संख्या 34 मानी गई है। विषय की दृष्टि से उनके संस्कृत ग्रंथों को निम्नलिखित छः भागों में रखा जा सकता है।

(1) मौलिक दर्शन ग्रंथ (2) स्तोत्र साहित्य (3) काव्य (4) धार्मिक अनुष्ठेय ग्रंथ (5) भाष्य या टीका ग्रंथ एवं (6) अन्य ग्रंथ।

निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत इनके समस्त ग्रंथों का संक्षिप्त परिचय यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

(१) मौलिक दर्शन ग्रंथ :-

श्री वेदान्तदेशिक द्वारा प्रणीत मौलिक दर्शन ग्रंथो की संख्या 12 है। उन सभी 12 ग्रंथों का संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है-

(i) न्याय परिशुद्धि -

इस ग्रंथ में गौतम के न्याय सूत्रों का वेदान्त समय से बहिष्कृत होने पर भी कथंचित् वेदान्त समयानुकूल अर्थ वर्णित हुआ है। न्याय परिशुद्धि नामक ग्रंथ प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, स्मृति और प्रमेय नामक पांच भागों में विभक्त है।

(ii) <u>न्याय सिद्धाञ्जन</u> –

न्याय परिशुद्धि के अन्तिम परिच्छेद में वर्णित प्रमेयतत्त्व का संक्षेप में ही वर्णन हो पाया है। इस ग्रंथ में प्रमेयतत्त्व पर विस्तार पूर्वक चर्चा की गई है। इसमें जडद्रव्य, जीव, ईश्वर, नित्यविभूति, बुद्धि एवं अद्रव्य संज्ञक नामक छः परिच्छेद है। अन्तिम अर्थात् छठा परिच्छेद बीच में ही भंग हो गया है। इसका अन्तिम भाग नहीं मिलता है।

(iii) <u>तत्त्व मुक्ताकलाप</u> –

तत्त्व मुक्ताकलाप में 500 श्लोक हैं। इस ग्रंथ में वेदान्त के रहस्यों को विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्त के अनुसार प्रतिपातित किया गया है। इस पुस्तक में जडद्रव्य, जीव, नायक, बुद्धि और अद्रव्य नामक पांच ग्रंथ हैं।

(iv) <u>सर्वार्थ सिद्धि</u> –

सर्वार्थसिद्धि नामक ग्रंथ में तत्त्व मुक्ताकलाप की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इसके माध्यम से ही तत्त्व मुक्ताकलाप को समझा जा सकता है।

(v) <u>शत दूषणी</u> –

इस समय यह सम्पूर्ण ग्रंथ प्राप्त नहीं है। इस पुस्तक में 100 वादों में निर्विशेष ब्रह्माद्वैत मत का निरास किया गया है। परन्तु सम्प्रति 66 वाद ही प्राप्त होते हैं, शेष नष्ट हो गये हैं।

(vi) सेश्वर मीमांसा –

वेदान्तदेशिक ने जैमिनि के पूर्व मीमांसा दर्शन की विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार व्याख्या करके उसे सेश्वर सिद्ध किया है। यह ग्रंथ पूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं है। इसके प्रथम अध्याय के केवल प्रथम और द्वितीय पाद ही प्राप्त होते हैं।

(vii) मीमांसा पादुका –

मीमांसा पदुका में 173 श्लोक हैं। यह ग्रंथ सेश्वर मीमांसा द्वारा प्रतिपादित विषयों का पद्यात्मक संग्रह है।

(viii) अधिकरण दर्पण –

वेदान्तदेशिक द्वारा प्रणीत अधिकरण दर्पण नामक ग्रंथ इस समय लुप्त है। 'निक्षेप रक्षा' में इसका उल्लेख मिलता है। यह ग्रंथ ब्रह्मसूत्र के अधिकरणों का संग्रह रूप रहा होगा। ऐसा प्रतीत होता है।

(ix) अधिकरण सारावली –

अधिकरण सारावली में चार अध्याय और कुल मिलाकर 562 श्लोक हैं। यह श्रीभाष्यानुसारी ब्रह्मसूत्राधिकरणों का विषय संग्रह रूप ग्रंथ है।

(x) चकार समर्थन –

चकार समर्थन नामक ग्रंथ लुप्त हो गई है। श्री विद्यारण्य द्वारा शतदूषणी में किसी 'च' शब्द को अनावश्यक बताये जाने पर

चकार के समर्थन में श्री वेदान्तदेशिक ने इस ग्रंथ की रचना की थी। इस प्रकार का उल्लेख द्राविड वैभव प्रकाशिका आदि में मिलता है।

(xi) वादित्रय खण्डनम् –

वादित्रय खण्डनम् में श्री शंकर, भास्कर एवं यादव प्रकाश के मतों का खण्डन किया गया है। यह बहुत ही संक्षिप्त एवं संतुलित है।

इन ग्रंथों के अतिरिक्त 'परमतभंग' नामक ग्रंथ भी श्री वेदान्तदेशिक द्वारा रचित मौलिक दार्शनिक ग्रंथ है।

(२) स्तोत्र साहित्य :–

श्री वेदान्तदेशिक ने संस्कृत में 26 स्तोत्र साहित्य की रचना की है। इसके साथ एक प्राकृत में भी 'अच्युत शतक' नामक स्तोत्र साहित्य की रचना इन्होंने की है। इस प्रकार वेदान्त देशिक द्वारा रचित स्तोत्रों का एक विशाल भण्डार है, जो निम्नलिखित शीर्षक में प्रस्तुत है।

(1) दशावतार स्तोत्र –

इस ग्रंथ के नाम से ही प्रतीत होता है कि इसमें विष्णु के दश प्रमुख अवतारों की स्तुति की गई है। इस ग्रंथ में 13 श्लोक हैं। इसमें भगवान् श्री रंगनाथ के अवतार का विशेष रूप से वर्णन किया गया है।

(ii) <u>भगवद्ध्यान सोपानम्</u> –

इस स्तोत्र में 12 श्लोक हैं। इसमें भी श्री भगवान् रंगनाथ की स्तुति की गई है। भगवान् रंगनाथ की भक्ति को प्राप्त करने के लिए सोपान स्वरूप इन श्लोकों की रचना की गयी है।

(iii) <u>हयग्रीव स्तोत्र</u> –

श्री वेदान्त देशिक ने इस स्तोत्र में 33 श्लोक की रचना प्रस्तुत की है। वेष्णव सम्प्रदाय में हयग्रीव भगवान् को विद्या एवं प्रकाश का प्रमुख देवता माना जाता है। इसमें 32 श्लोकों में हयग्रीव भगवान् की स्तुति की गयी है। तैतीसवें श्लोक में उन्हौंने स्तोत्र के प्रयोजन एवं अपनी कृति होने का उल्लेख किया है।

(iv) <u>अभीतिस्तव</u> –

इस स्तोत्र की इतनी महिमा वर्णित है कि इसके पाठ से व्यक्ति भव–भय से मुक्त हो जाता है[26]। इसमें 29 श्लोक हैं, जिसमें भगवान् श्री रंगनाथ की स्तुति की गई है। इस स्तोत्र में श्री वेदान्तदेशिक ने रंगनाथ भगवान् के प्रति अपनी भक्ति व्यक्त की है।

(v) <u>गोपाल विंशति</u> –

इस स्तोत्र के नाम से ही विदित हो रहा है कि इसमें भगवान् श्री कृष्ण की स्तुति की गयी है। कवि ने इस स्तोत्र में 20 श्लोकों में भगवान् श्री कृष्ण की स्तुति की है। उन्होंने इक्कीसवें श्लोक में अपने नाम का वर्णन करते हुए स्तोत्र की महिमा बतायी है।

(vi) <u>वरदराज पंचाशत</u> –

इस स्तोत्र में 51 श्लोक हैं। वेदान्तदेशिक ने इस स्तोत्र में भगवान् वरदराज की स्तुति की है। इस स्तोत्र के अन्तिम श्लोक में उन्होंने स्वरचित श्लोकों का समर्पण किया है।

(vii) <u>श्री स्तुति</u> –

वेदान्तदेशिक ने इस स्तोत्र में भगवान् श्री विष्णु की पत्नी लक्ष्मी की स्तुति की है। इसमें कुल 25 श्लोक हैं। कवि ने इस स्तोत्र की महिमा का गुणगान करते हुए बताया है कि इससे सम्पूर्ण सुख–सुविधाओं की प्राप्ति संभव हैं।

(viii) <u>वेगासेतु स्तोत्र</u> –

इस स्तोत्र में कुल श्लोको की संख्या 102 है। इस स्तोत्र का एक अन्य नाम 'यथोक्तकारि' स्तोत्र भी है। इस स्तोत्र के विषय में एक कथानक है कि एक बार ब्रह्मा यज्ञ कर रहे थे। इस यज्ञ में सरस्वती ने भाग नहीं लिया। वह वेगवती धारा के रूप में बहने लगी। स्तुत यथोक्तकारी विष्णु ने धारा को रोक दिया, इस कारण उनका नाम वेगासेतु पड़ गया। उन्हीं की स्तुति वेदान्त देशिक ने इस स्तोत्र में प्रस्तुत की है।

(ix) <u>अष्टभुजाष्टक</u> –

इस स्तोत्र में 102 श्लोक हैं। दक्षिण भारत के कांचीपुरम् में स्थित यथोक्तकारिन् मन्दिर के अष्टभुजाधारी विष्णु को लक्ष्य करके इस स्तोत्र की रचना की गई है। कवि का कहना है कि शरणागत की

रक्षा हेतु भगवान् विष्णु ने दुगुनी (आठ) भुजाएं धारण की है[27]।

(x) कामासिकाष्टक –

इस स्तोत्र में 92 श्लोक हैं। कवि ने इस स्तोत्र में कांचीपुरम् के 'कामासिका' मन्दिर में स्थित नृसिंहरूपधारी विष्णु की स्तुति की है।

(xi) देवनायक पंचायत –

श्री वेदान्तदेशिक ने इस स्तोत्र के लिए 53 श्लोकों की रचना की। तिरूवहीन्द्रपुरम् में स्थित देवनायक भगवान् की सतुति इस स्तोत्र में की गयी है।

(xii) अच्युत शतकम् –

यह स्तोत्र प्राकृत भाषा में लिखा गया है। इसमें 101 गाथायें हैं। इस स्तोत्र में देवनायक अर्थात् भगवान् अच्युत की स्तुति की गयी है।

(xiii) परामर्थ स्तुति –

इस स्तोत्र का दूसरा नाम 'विजयराघव स्तुति' या 'समरपुंगव स्तुति' भी है। वेदान्तदेशिक इस स्तोत्र में राम को भगवान् विष्णु के रूप में स्थापित कर 102 श्लोकों में स्तुति की है।

(xiv) रघुवीर गद्यम् –

इसका एक दूसरा नाम 'महावीर वैभव' भी है। वेदान्तदेशिक

ने इसे गद्यरूप में प्रस्तुत किया है। इसमें भगवान् राम की स्तुति की गयी है।

(xv) भू स्तुति –

इस स्तोत्र में कुल 33 श्लोक है। इस स्तोत्र में कवि ने भू अर्थात् पृथ्वी को देवी रूप मानकर स्तुति की है।

(xvi) देहलीश स्तुति –

इस स्तोत्र में दक्षिण के तिरक्कोइलूर में स्थित भगवान् देहलीश की स्तुति की गयी है। इसमें श्लोकों की कुल संख्या 28 है।

(xvii) गोदास्तुति –

इस स्तोत्र में कुल 29 श्लोक है। इसमें श्री गोदा (आण्डाल) की स्तुति की गयी है, श्री गोदा अलवारों में प्रमुख है।

(xviii) दयाशतकम् –

इस स्तोत्र में कवि ने श्री निवास भगवान् की दया का बड़ा ही काव्यात्मक रूप में स्तुति की है। इसमें कुल श्लोकों की संख्या 108 है।

(xix) न्यास दशकम् –

वेदान्तदेशिक ने 10 श्लोकों में भगवान् श्री वरदराज की स्तुति की है।

(xx) <u>शरणागति दीपिका</u> –

इस स्तोत्र में 60 श्लोक हैं। इसका एक दूसरा नाम 'दीपप्रकाश स्तोत्र' भी है। वेदान्तदेशिक ने कांचीपुरम् में स्थित भगवान् दीपप्रकाश को लक्ष्य करके इस स्तोत्र की रचना की है।

(xxi) <u>न्यासतिलकम्</u> –

इस स्तोत्र में 32 श्लोक हैं। इसमें कवि ने श्री रंगनाथ भगवान् की स्तुति की है। न्यास शब्द से विदित होता है कि कवि ने इसमें भगवान् की शरणागति की है।

(xxii) <u>षोडशायुध स्तोत्र</u> –

इस स्तोत्र में कुल 19 श्लोक हैं। इसमें विष्णु भगवान् के सोलह अस्त्रों की स्तुति की गयी है।

(xxiii) <u>सुदर्शनाष्टकम्</u> –

इस स्तोत्र में विष्णु भगवान् का अस्त्र 'चक्र सुदर्शन' की स्तुति की गयी है। इसमें श्लोकों की संख्या 8 है। इसके अतिरिक्त नवम् श्लोक में इस स्तोत्र की माहात्म्य का वर्णन किया गया है।

(xxiv) <u>गरूड दण्डक</u> –

इस स्तोत्र में दण्डक छन्द के चार खण्डों में गरुड की स्तुति की गयी है। इसमें तीन श्लोकों का भी प्रयोग किया गया है।

(xxv) गरूड पंचाशत –

इस स्तोत्र में वेदान्तदेशिक ने विष्णु के वाहन गरूड की स्तुति की है। इसमें 52 श्लोक हैं। इस स्तोत्र को परव्यूहवर्णक, अमृतहरण वर्णक, नागदमन वर्णक, परिष्कारवर्णक, अद्भुत वर्णक, नामक पांच खण्डों में बांटा गया है।

(xxvi) यतिराज सप्तति –

इसमें कवि ने यतिराज श्री रामानुज की स्तुति की है। इस स्तोत्र में कुल 74 श्लोक है।

(xxviii) पादुका सहस्रम् –

इस स्तोत्र में 1008 श्लोक हैं। इस कारण यह एक वृहद् स्तोत्र है। रंगनाथ भगवान् की पादुका को लक्ष्य करके इस स्तोत्र की रचना की गयी है। इसे प्रस्ताव, समाख्या, प्रभाव, समर्पण, प्रतिस्थापना, अधिकार परिग्रह, अभिषेक, निर्यातना, वन्दिवैतालिक, श्रृंगार, संचार, पुष्प, पराग, नाद, रत्न सामान्य, बहुरत्न, पद्मपराग, मुक्ता, मरकत, इन्द्रनील, बिम्ब, प्रतिबिम्ब, कांचन, शेष, द्वन्द्व, संनिवेश, यन्त्रिका, रेखा, सुभाषित, प्रकीर्ण, चित्र, निर्वेद और फल नाम बतीस पद्धतियों में विभक्त किया गया है।

इस प्रकार श्री वेदान्तदेशिक ने 27 प्रबन्ध स्तोत्रों की रचना की है। परन्तु विद्वानों में इनकी संख्या के विषय में कुछ मतभेद है। यथा डा0 सत्यव्रत सिंह ने अपने शोध में 'दयाशतक' एवं 'गोदास्तुति' को काव्य के अन्तर्गत रखा है। दयाशतक एवं गोदास्तुति को काव्य न मानकर स्तोत्र मानना ही अधिक ठीक है। यद्यपि इन

ग्रन्थों में काव्यत्व है, परन्तु अन्य स्तोत्रों में काव्यता का अभाव है, यह नहीं कहा जा सकता है। काव्यता होने पर भी देव विशेष की स्तुति करना ही स्तोत्र ग्रंथों का मुख्य विषय हैं। न्यासदशक को भी स्तोत्र ग्रंथ ही मानना उचित है। इस स्तोत्र में वरदराज भगवान् की स्तुति की गई है। डा0 सिंह ने घाटी पंचक, दिव्य देश मंगलाशासन पंचक एवं सुभाषित नीवी को स्तोत्रों के अन्तर्गत रखा है। घाटी पंचक वेदान्त देशिक की रचना स्वीकार नहीं की जाती है। दिव्यदेशमंगलशासनपंचक रहस्यत्रयसार के अन्तर्गत माना जाता है। सुभाषित नीवी को किसी भी स्थिति में स्तोत्र ग्रंथ नहीं माना जा सकता है बल्कि यह नीति ग्रंथ है। इसमें किसी की स्तुति नहीं की गयी है। सुभाषित नीवी को काव्य मानना ही ठीक है। श्री कांची प्रतिवादि भंयकर अण्णंगराचार्य ने उपर्युक्त स्तोत्रों के अतिरिक्त न्यास विंशाति वैराग्य पंचक, द्रमिडोपनिपतात्पर्यरत्नाव-ली और द्रमिडोपनिषत्सार को भी स्तोत्र ग्रंथों के अन्तर्गत रखा है। परन्तु इन्हें अनुष्ठेय ग्रंथों के अन्तर्गत रखना चाहिए क्योंकि इनमें किसी की स्तुति नहीं की गई है।

(3) काव्य –

वेदान्तदेशिक ने छः काव्यों की रचना की है। परन्तु सम्प्रति केवल चार ही प्राप्त होते हैं। उनके काव्यों के अध्ययन से पता चलता है कि वे दार्शनिक एवं तार्किक होने के साथ-साथ एक अच्छे कवि भी थे।

वेदान्त देशिक द्वारा रचित चार काव्य निम्नलिखित हैं-

(i) संकल्प सूर्योदय -

वेदान्त देशिक द्वारा लिखित यह एक प्रतीक नाटक है। यह 10 अंको में वर्णित है। इसमें वैष्णव दर्शन का बड़ा ही मनोरमा वर्णन प्रस्तुत किया गया है। जिसे द्वितीय अध्याय में विस्तृत रूप से प्रस्तुत किया जायेगा।

(ii) यादवाभ्युदय -

इस काव्य में मुख्यतः महाभारत की कथा से सम्बन्धित तथ्य प्रस्तुत किया गया है। कवि ने इसमें कृष्ण के अवतार से लेकर महाभारत के युद्ध समाप्ति तक वर्णन किया है। यह 24 सर्गो में विभक्त हैं।

(iii) सुभाषित नीवी -

वेदान्त देशिक ने इसकी रचना 145 श्लोकों से की है, इसमें राजा की क्या नीति होनी चाहिए इसका विधिवत वर्णन किया गया है। इस ग्रंथ में सुभाषितों की बहुलता है। इसमें अनिपुण, हस्त, खल, दुवृत, असेव्य, महापुरूष, समचित, सदाश्रित, नीति, वदान्य सुकवि और परीक्षित नामक बारह पद्धतियां हैं।

(iv) हंस सन्देश -

यह एक सन्देश या दूत खण्ड काव्य है। इस काव्य में 2 आश्वास है। प्रथम आश्वास में 60 श्लोक हैं। तथा दूसरे में श्लोकों की संख्या 50 है। इस काव्य में रावण द्वारा अपहरण कर ले गयी सीता के लिए सन्देश भेजा गया है। राम ने एक हंस को सन्देश वाहक बनाया है।

(v) <u>यमक रत्नाकर</u> –

इस काव्य के कृतित्व के बारे में विद्वानों में एक राय नही है। ग्रंथ के उपलब्ध न होने के कारण कुछ कहना भी आसान नहीं है। काव्य के नाम से ही प्रतीत होता है कि इसमें यमक अलङ्कार की बहुलता होगी।

(vi) <u>समस्या सहस्र</u> –

यह काव्य भी सुलभ नहीं है। नाम से ही प्रतीत होता है कि इस काव्य में एक सहस्र समस्याओं का वर्णन किया गया होगा। 'स्तोत्र रत्नभाष्य' के अन्त में वर्णित 'अगणि सदसि सद्भिर्यः समस्या सहस्री' से विदित होता है कि यह काव्य भी वेदान्त देशिक द्वारा ही रचित है।

(4) **<u>अनुष्ठेय ग्रन्थ</u>** –

अनुष्ठेय ग्रन्थों की संख्या 11 मानी गयी है। इन ग्रन्थों मे श्री वैष्णव सम्प्रदाय के अन्तर्गत विहित कर्मो का वर्णन किया गया है।

<u>(1) सच्चरित्र रक्षा</u> –

वेदान्तदेशिक द्वारा रचित इस ग्रंथ में तीन अधिकरण हैं। इसमें श्री वैष्णव सम्प्रदाय प्रसिद्ध शंखचक्र धारण, द्वादशोर्ध्वपुण्ड्र धारण एवं भगवन्निवेदितोपयोग की वैधता, निरवद्यता एवं भगवत् प्रणीनता का क्रम से वर्णन किया गया है।

(2) श्री पांचरात्र रक्षा –

इस ग्रंथ में कविने श्री पांचरात्र की प्रमाणता स्थापित करते हुए उसका वेदाविरूद्धत्व प्रतिपादित किया है। इसमें सिद्धान्त व्यवस्थापन, नित्यानुष्ठानस्थापन एवं नित्यग्रंथ व्याख्यान नामक तीन अधिकरण है।

(3) निक्षेप रक्षा–

निक्षेप, प्रपत्ति, शरणागति, न्यास आदि एक ही अर्थ के पर्यायवाची शब्द है। इस ग्रंथ में श्रुत्यादि प्रमणों के आधार पर निक्षेप का ब्रह्मविधात्व स्थापित किया गया है।

(4) न्यास विशंति –

इस ग्रंथ में कुल श्लोकों की संख्या 22 है। जिसमें 20 श्लोकों में प्रपत्ति के पर्यायवाचक, न्यास का अनुष्ठान प्रकार, उसके उपयुक्त शिष्य और आचार्य आदि के लक्षण, भक्ति और प्रपति में अधिकारी भेद आदि विषयों का वर्णन किया गया है। उन्होंने न्यास विंशति नामक ग्रंथ की व्याख्या भी लिखी है।

(5) वैराग्य पंचक –

'वैराग्यपंचक' नामक ग्रंथ से वेदान्तदेशिक की वैराग्य पराकाष्ठा का पता चलता है। यह सभी लोगों के द्वारा निश्यित ही पठनीय और आस्वादनीय है।

(6) यज्ञोपवीत प्रतिष्ठा –

इसमें यज्ञोपवीत धारण करने की आवश्यकता तथा उसके लिए मन्त्रों के उपयोग के विषय में कवि ने बताया है। इसमें श्लोकों की कुल संख्या 9 है।

(7) अराधना कारिका–

इसमें कवि ने केवल दो ही पद्य की रचना की है। इसके माध्यम से प्रभु की अराधना के विषय में वर्णन किया गया है।

(8) वैश्वदेव कारिका –

इस अनुष्ठेय ग्रंथ में 9 श्लोक हैं। श्री वैष्णवों द्वारा अनुष्ठेय पंचकाल कृत्य के अन्तर्गत वैश्वदेव याग पर इसमें विचार किया गया है।

(9) हरिदिन तिलक –

इसमें कुल 17 श्लोक हैं। श्री वैष्णवों द्वारा अनुष्ठेय एकादशी व्रत के विषय में बताया गया है।

(10) द्रमिडोपनिषत्सार –

इसमें कुल 26 श्लोक हैं। यह एक पद्यबद्ध ग्रंथ है। इसमें शठकोपस्वामी की गाथाओं का अर्थसंग्रह किया गया है।

(५) भाष्य या टीका ग्रंथ –

वेदान्तदेशिक ने अपने पूर्व आचार्यो के द्वारा लिखे गये

अनेक ग्रंथों पर टीका या भाष्य भी लिखे हैं। टीका होने पर भी उन ग्रंथों का बड़ा ही महत्त्व है। उनके द्वारा लिखित भाष्य निम्नलिखित है।

(1) तात्पर्य चन्द्रिका –

श्री वेदान्त देशिक ने यह ग्रंथ श्री रामानुज स्वामी प्रणीत श्री मद्भगवद्गीता भाष्य की व्याख्या के रूप में प्रस्तुत की है।

(2) गीतार्थ संग्रह रक्षा –

यह ग्रंथ भी टीका रूप में ही है। श्री यमुनाचार्य ने गीता के अर्थ को सुरक्षित रखने के लिए 32 श्लोकों की एक 'गीतार्थ संग्रह' नामक रचना प्रस्तुत की थी। श्री वेदान्त देशिक ने इसी ग्रंथ की रक्षा स्वरूप एक भाष्य या व्याख्या रूप ग्रंथ की रचना की जिसका नाम गीतार्थ संग्रह है।

(3) तत्त्व टीका –

वेदान्त देशिक ने यह ग्रंथ श्री भाष्य का विवरण स्वरूप प्रस्तुत किया है। श्री भाष्य में स्थित जिन विषयों पर श्रुत प्रकाशिका में विचार नहीं किया गया था, उन पर इस में श्री भाष्यकाराशयानुरूप विचार प्रस्तुत किया गया है। पर 'जिज्ञासाधिकरण' समाप्ति तक ही यह ग्रंथ सुलभ है।

(4) रहस्य रक्षा –

कवि द्वारा रचित यह ग्रंथ 3 अधिकरणों में वर्णित है। श्री वैष्णवसिद्धान्त के अनुरूप प्रपति का स्वरूप, महिमा, अंग, अनुष्ठान

आवश्यकता आदि विषयों को इस ग्रंथ में समाहित किया गया है। वास्तव में ये अधिकरण गद्यत्रय, स्तोत्र रत्न और चतुःश्लोकी के भाष्य हैं।

(5) ईशावस्योपनिषद्भाष्य –

उपनिषदों में प्रमुख इस उपनिषद् का अर्थ सामान्य लोगों के वश के बाहर था। इस कारण वेदान्त देशिक ने ईशावास्योपनिषद्भाष्य नामक टीका की रचना की।

(6) वेदार्थ संग्रह व्याख्या –

यह ग्रंथ सुलभ नहीं है। श्री रामानुज स्वामी द्वारा प्रणीत वेदार्थ संग्रह पर कवि नेयह ग्रंथ लिखा था।

(८) अन्य ग्रंथ –

(1) भूगोल निर्णय –

यह भूमण्डल के विषय में जानकारी प्रस्तुत करने वाला ग्रंथ है। इसकी रचना 9 श्लोकों में की गयी है। वेदान्त देशिक ने पुराणों में वर्णित भूमण्डल के सम्पूर्ण भागों का वर्णन प्रस्तुत किया है।

(2) शिल्पार्थ सार –

यह ग्रंथ सम्प्रति सुलभ नहीं है। इस ग्रंथ की रचना वेदान्त देशिक ने संभवतः तमिल भाषा में की थी। 'वैभव प्रकाशिका' नामक ग्रंथ में महाचार्य ने शिल्पार्थसार को वेदान्त देशिक की रचना स्वीकार किया है।

<u>अन्य कृतियां</u> –

वेदान्त देशिक ने इन ग्रंथों के अतिरिक्त मणिप्रवाल शैली तथा तमिल में अनेक ग्रंथों की रचना की है। मणिप्रवाल शैली एक मिश्रित शैली है जिसमें संस्कृत और तमिल को मिलाकर एक नयी भाषा का निर्माण किया गया। इसमें लिपि तमिल की रहती है। शब्द प्रायः संस्कृत के रहते हैं किन्तु अन्त में विभक्तियां तमिल की जोड़ दी जाती हैं।

मणिप्रवाल शैली में लिखित वेदान्तदेशिक के ग्रंथों को 'रहस्य ग्रंथ' की संज्ञा दी गई है। इनकी संख्या 34 है। इनमें 6 ग्रंथ रहस्य तथा 28 ग्रंथ लघु रहस्य हैं। लघु रहस्य ग्रंथों के भी दो भाग किये गये हैं। पहला अमृत-रंजनी तथा दूसरा अमृत स्वादिनी है। अमृत रंजनी के अन्तर्गत 17 एवं अमृत स्वादिनी के अन्तर्गत 11 रचनाएं हैं।

रहस्य ग्रंथ –

इसके अन्तर्गत 6 ग्रंथों की कवि ने रचना की है।

(1) <u>गुरू परम्परा सार</u> –

कवि इसमें श्री वैष्णव गुरू परम्परा का क्रम, प्रतिदिन उसके अनुसन्धान की आवश्यकता आदि का संक्षेप में वर्णन किया हैं।

(2) <u>रहस्यत्रयसार</u> –

इस ग्रंथ में श्री वैष्णव सम्प्रदाय के प्रसिद्ध मूलमंत्र, द्वयमन्त्र एवं चरमश्लोक की वृहद, रूप में व्याख्या की गयी है। यह ग्रंथ चार भागों में विभक्त है। इसमें 32 अधिकार हैं।

(3) परमत भंग –

वेदान्तदेशिक द्वारा रचित यह एक मौलिक दार्शनिक ग्रंथ हैं। इसमें स्वसिद्धान्त स्थापन पूर्वक लोकायत, बौद्ध, शंकर, भाष्करीय, यादव प्रकाशीय, वैयाकरण, वैशेषिक, नैयायिक, कौमारिल, प्राभाकर, कपिल, योग, पाशुपत इत्यादि मतों का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है।

(4) परमपद सोपानम् –

इस ग्रंथ में ब्रह्मज्ञानियों के परम पद प्राप्ति का क्रम बताया गया है। इसमें विवेक, निर्वेय, विरक्ति, भीति, प्रसाद, हेतु, उत्क्रमण, अर्चिरादि मार्ग, दिव्य देश प्राप्ति एवं मोक्षानुभव नामक नव पर्व हैं।

(5)हस्तगिरि माहात्म्यम् –

इस ग्रन्थ में ब्रह्माण्ड पुराण में कहे गये रूप में कांची नगरीस्थ हस्तगिरि का महात्म्य तथा वहां पर ब्रह्मा द्वारा अवश्मेध याग एवं वरदराज भगवान् का आविर्भाव इत्यादि का वर्णन किया गया है।

(6) स्तेयाविरोध –

सम्प्रति यह ग्रंथ सुलभ नहीं है। भक्तों में अग्रगण्य श्री परकाल ने दूसरों के धन का हरण करके मन्दिर निर्माण कराया था। इस ऐतिह्य के समर्थन में संभवतः यह ग्रंथ लिखा गया था।

लघु रहस्य ग्रंथ

अमृत रंजनी

(1) तत्त्व पदवी
(2) रहस्य पदवी
(3) सम्प्रदाय परिशुद्धि
(4) तत्त्व नवनीतम्
(5) रहस्य नवीनतम्
(6) रहस्य मातृका
(7) तत्त्व सन्देश
(8) तत्त्व सन्देश
(9) रहस्य सन्देश
(1 0) रहस्य सन्देश विवरणम्
(1 1) तत्त्व रत्नावली
(1 2) तत्त्व रत्नावली विषय संग्रह
(1 3) रहस्य रत्नावली
(1 4) रहस्य रत्नावली हृदयम्
(1 5) तत्वत्रय चुलकम्
(1 6) रहस्यत्रय चुलकम्
(1 7) सारदीप ।

अमृत स्वादनी

(1) सारसारः
(2) अभयप्रदान सारः
(3) तत्त्वशिखामणिः (लुप्त)
(4) रहस्य शिखामणिः
(5) प्रधान शतकम्
(6) अंजलि वैभवम्
(7) उपकार संग्रह
(8) सार संग्रह
(9) मधुरकवि हृदयम्
(1 0) मुनिवाहन भोगः
(1 1) विरोध परिहारः।

श्री वेदान्तदेशिक द्वारा रचित द्राविड गाथारूप प्राप्य ग्रंथों की संख्या 1 8 है। इन्हें 'श्री देशिकप्रबन्ध' भी कहते हैं। इनके नाम निम्नलिखित हैं।

(1) मुम्मणिवकोवै (मणित्रयमाला)	(10) श्री वैष्णवदिनचर्या
(2) पन्दुप्पा (कन्दुक गाथा)	(11) नवरत्नमाला
(3) कडल्पा	(12) तिरूचिन्मालै
(4) अम्मानेप्पा	(13) आहार नियम
(5) अशलपा	(14) तिरूमन्त्रच्चुरूक्कु
(6) एशल्पा	(15) द्वयच्चुरूक्कु
(7) अहैवक्लप्पतु	(16) चरमश्लोक कच्चुरूक्कु
(8) अर्थपचकम्	(17) प्रबन्धसार
(9) पन्निरूनामम्	(18)गीतार्थ सग्रह पट्टु (भाष्यरूप)

इसके अतिरिक्त निम्नलिखित छ ग्रथ भी श्री वेदान्त देशिक द्वारा रचित बताये जाते हैं जो इस समय सुलभ नहीं हैं[28]–

1 निगम परिमलम्	4 गुरूरत्नावलि
2 रसभूमामृतम्	5 वृक्ष भूमामृतम्
3 शिल्प सार	6 प्राकृत विशद सग्रह।

३. वेदान्तदेशिक की वैदुष्यता

ज्ञानराशि के सचित कोष का नाम ही साहित्य है। कवि द्वारा अधीत समस्त वाङ्मय, सामाजिक परम्परायें और मान्यतायें, सास्कृतिक गौरव आदि उसकी कृतियों में झलकते रहते हैं। केवल प्रतिभा या अभ्यास सहृदय श्लाघ्य काव्य की रचना में हेतु नहीं हो सकते। व्युत्पति या अभ्यास से परिष्कृत प्रतिभा ही उत्तम काव्य की सृष्टि में हेतु मानी गयी है[29] । यह व्युत्पति ही कवि द्वारा अधीत एव स्वायत्तीकृत ज्ञानराशि है, इसे ही कवि की वैदुष्यता कह सकेंत हैं। इसका सचय कवि वेद, वेदाग, पुराण, इतिहास, तथा अन्यान्य शास्त्रों एव विविध कलाओं के अनुशीलन द्वारा करता है। इससे कवि की नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि (प्रतिभा) परिष्कृत होकर सहृदयहृदयाहलादक उत्तम काव्य रत्न का सर्जन करती है। व्युत्पति के अभाव में केवल कोरी प्रतिभा द्वारा सृष्ट कृति रूपवती भिखारिणी के समान सम्मान नही पाती है। जिस प्रकार कुलीनता, गुण एव सम्पति के आभाव में रूपवती भिखारिणी दर–दर ठोकरें खाती है, स्थान–स्थान पर तिरस्कृत होती है, रूपसौन्दर्य के कारण दुर्जनों के बचोवाणों को सहती हुई येनकेन प्रकारेण अपना जीवनयापन करने में समर्थ होती है, उसी प्रकार व्युत्पति के अभाव में कवि की कृति विद्वानों द्वारा अनादृत होकर भाषासौष्ठव, (शब्दालकार) आदि द्वारा चमत्कृत होने के कारण कतिपय (ग्राम्य) लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करने में समर्थ होने पर भी आलोचकों का कोपभाजन बनकर सदा के लिए मजूषा का आश्रयण कर लेती है ।

अस्तु व्युपति उत्तम काव्यरत्न की सृष्टि में अनिवार्य तत्व

है या नहीं? यह एक विचारणीय विषय है। व्युत्पति या वैद्वष्यता को हम सरल भाषा में पाण्डित्य कह सकते हैं। पाण्डित्य उत्तम काव्य का हेतु हो सकता है, किन्तु उसे अनन्य हेतु नहीं कह सकते हैं। वस्तुत उत्तम काव्य रत्न की सृष्टि में गम्भीर अनुभूति ही प्रमुख कारण हैं। जब कवि अन्यान्य विषयों का अनुभव करके उन्हें आत्मसात् कर लेता है तो वे अनुभूतिया उसका स्वाभाविक धर्म बन जाती है, इनसे प्रेरित होकर की गयी रचना में कवि अपना हृदय खोलकर रख देता है, जिसे पढ़ने से पाठक को ऐसा प्रतीत होने लगता है कि मानो यह अपने ऊपर बीती बात हो। वास्तव में यही साधारणीयकरण है। साधारणीकरण में जहा पाठक की सहृदयताप्रमुख हेतु है वहीं कवि द्वारा अनुभूत विषयों की भावाभिव्यक्ति का भी कम महत्त्व नहीं है। कभी-कभी कवि अनुभूत विषयों का भी हृदयहारी वर्णन प्रस्तुत करता है। इसमें उसकी प्रतिभा ही प्रमुख हेतु है। अपनी प्रतिभा द्वारा वह अधीत एव अनुभूत विषयों को तो चमत्कृत करके उपस्थित करता ही है, अन्य विषयों का भी ययार्थ एव आदर्श सम्पृक्त रूप ढालने में समर्थ हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रतिभा पाण्डितय एव अनुभूति से भिन्न है। उससे उपकृत होने पर भी पाण्डित्य एव अनुभूति उसके पोषक हैं। पाडित्य एव प्रतिभा के समन्वित रूप से सृष्ट काव्य निश्चय ही अनुभूति एव प्रतिभा समन्वित रूप से रचित काव्यों से भिन्न कोटि का होगा। अत काव्यों का तुलनात्मक अध्ययन करते समय हम इन उभय प्रकारक काव्यों का मूल्याकन एक मापदण्ड से नहीं कर सकते हैं। इनके स्वरूपभेद का कारण केवल हेतुओं की भिन्नता ही नहीं, अपितु प्रयोजन में भेद भी हो सकता है। काव्य प्रकाश कार ने जिन 6 प्रयोजनों को काव्यबीज के रूप में प्रस्तुत किया है, वे समस्त

(यथासाध्य) या व्यस्त रूप में भी काव्य के प्रयोजन बन सकतें हैं। किन्तु सकल प्रयोजन मौलिभूत सद्य परनिर्वृति (रसब्रह्मानन्द का अनुभव) ही है। कुछ विद्वान् सबसे बाद में उपस्थापित किये जाने के कारण कान्तासम्मिततयोपदेश को ही प्रमुख प्रयोजन मानते हैं, किन्तु हमारी समझ से इसे विवाद का विषय नही बनाया जा सकता है। काव्य प्रकाशकार द्वारा वृति में स्वय 'सकलप्रयोजनमौलिभूतम्' इत्यादि उल्लिखित होने के कारण इसका समाधान वहीं से हो जाता है। हा, इतना अवश्य ज्ञातव्य है कि अन्यान्य प्रयोजनों को लक्ष्य बनाकर लिखे गये काव्यों का मूल्याकन एक तुला पर रखकर नहीं किया जा सकता है। उदाहरण के लिए कालिदास और वेदान्तदेशिक के काव्यों को ले सकते है। कालिदास के काव्यों का प्रमुख प्रयोजन ब्रह्मासहोदार रसानन्द की प्राप्ति कराना है किन्तु आचार्य वेदान्तदेशिक के काव्यों का प्रयोजन कान्तासम्मितोपदेश है। साक्षात् ब्रह्मानन्द प्रदान करने के लिए प्रवृत आचार्य तत्सहोदर रसानन्द के मोह में कैसे भटक सकता है, वह तो काव्यमुखेन सरसरीति से उन सदुपदेशों को प्राणियों तक पहुचाना चाहते हैं, जिनसे जीवों का कल्याण हो सके। इसके लिए सासारिक विषयों का अनुभव (निवृत्यर्थ) जितना आवश्यक है, अससे अधिक शास्त्रों में व्युत्पति (पाण्डित्य) (प्रवृत्यर्थ) आवश्यक है। यही कारण है कि इनके काव्यों में स्थान-स्थान पर शास्त्रीय पाण्डित्य भरा पड़ा है, जो कि रसानुभूति रूप काव्य प्रयोजन में गहभूत माना जाने पर भी उपदेश रूप प्रयोजनान्तर की सिद्धि के लिए गुण तथा परमावश्यक तत्व है।

वेदान्तदेशिक के काव्यों को पढ़ने से उनकी बहुज्ञता का एक स्पष्ट रूप सामने आ जाता है। विभिन्न विषयों पर उनकी शताधिक रचनायें उनके बहुज्ञ होने का उद्घोष करती है। वे विद्या

सम्पत्तियों के भण्डार थे[30]।

विश्व में सर्वाधिक प्राचीन सचित ज्ञानराशि रूप बाङ्मय वेद है। वेदों के विषय में वेदान्तदेशिक की व्युत्पति होना स्वाभाविक है। अत सर्वप्रथम वेद विषय बहुज्ञता का परिचय कराना ही अधिक समीचीन होगा।

(क) वेद

वेद से तात्पर्य चारों वेदों एव उनके चारो भागो–सहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् से है।

ऋग्वेद के अनुसार पुरूषोत्म नारायण (पर ब्रह्म) के नेत्रों से चन्द्रमा का जन्म हुआ है[31] ।

यादवाभ्यूदय में चन्द्रमा का जन्म इसी रूप में वर्णित हुआ है। कृष्ण के पूर्ववश का वर्णन करते हुए कवि कहता है उन पुरूषोत्त्म के मन से जगत को आनन्दित करने वाला चन्द्रमा हुआ[32] ।

श्रुति कहती है कि ब्रह्म है यदि ऐसा कोई ज्ञान प्राप्त कर लेता है तो उसे परमात्मा (ब्रह्म) जानने लगता है अर्थात् आत्मरूपेण स्वीकार कर लेता है[33] । उसके सम्पूर्ण सुकृत और दुष्कृत समाप्त हो जाते हैं। उसके सुकृत प्रियजनों के पास तथा दुष्कृत अप्रियजनों (शत्रुओं) के पस चले जाते हँ [34] ।

वेदान्तदेशिक कहते है कि भगवान द्वारा स्वीकार कर लिए जाने पर इस ससार से मुक्त होने वाले प्राणी के पापसमूहों को सहारा देने वाला कोई नही रहता अर्थात वे नष्ट हो जाते है[35] ।

श्रुतियों से यह सिद्ध होता है कि एक मात्र ब्रह्म ही सत्

है। पूर्व में वही एकाकी था। उसने एक होते हुए भी अनेक होना चाहा। उसने इच्छा की कि लोकों की सृष्टि करू। उस समय न ब्रह्मा थे, न शिव थे, और न आकाश, पृथ्वी, नक्षत्र, जल, अग्नि, सोम या सूर्य ही थे। उसे अकेले अच्छा न लगा अत उसने लोकों की सृष्टि की। उसी परमात्मा की श्री और लक्ष्मी पत्निया हैं[36] ।

वेदान्तदेशिक एक छोटे से श्लोक में उन समस्त श्रुतियों का स्वारस्य प्रतिपादित करते है। वे कहते है कि श्रिय पति निरतिशय वैभवशाली, परमात्मा ने अकेले ही इस दृश्यमान जगत की सृष्टि अपने में ही कृपावश लीलामात्र के लिए स्वय की[37] ।

सृष्टि से पूर्व यह प्रपच अव्याकृत था परामात्मा ने नाम और रूप से उसकी व्याकृति की[38]। इसके लिए उसने जीव रूप से स्वय प्रवेश किया[39]।

इसी श्रुति सम्मत अर्थ का उल्लेख वेदान्तदेशिक करते हुए कहते हैं कि विश्वाधिक शक्ति अद्वितीय परमात्मा ने समस्त नामो और रूपों की रचना की[40] । श्रुति कहती है कि जो व्यक्ति अपने देवता का परित्याग करके दूसरे देवों की उपासना करता है, वह परम पद नहीं पाता है, अपितु पापयुक्त होता है[41]।

इसी भाव को लेकर आचार्य वेदान्तदेशिक इन्द्र की उपासना न करके, गोवर्धन की पूजा करने का समर्थन करते हुए कहते हैं- यदि कोई व्यक्ति अपने देवता का अतिक्रमण करके देवतान्तर की पूजा करता है तो वह इस लोक से और परलोक से भी च्युत होता है। साथ ही पापभाजन भी बनता है[42] ।

श्रुति स्पष्टरूप से प्रतिपादित करती है कि बाह्मण, क्षत्रिय उस परमात्मा के खाद्य (ओदन) सामग्री हैं, मृत्यु उसके लिए चटनी

(उपसेचन) है तो भला कौन समझ सकता है कि उसका परम पद कहा और कैसा है[43]। इसमें ब्राह्मण और क्षत्रिय पद से समस्त जगत् उपलक्षित हुआ है।

वेदान्तदेशिक दो स्थानों पर इस श्रुति का स्वारस्य प्रतिपादित करते हैं प्रथम तो वे गोवर्धन पूजा के प्रसग में कहते हैं कि - सम्पूर्ण भुवनों की मृत्यु रूप भोजन तथा अनन्य भक्तों द्वारा प्रदत्त हव्य काव्य से भी तृप्त न होने वाले विश्वपालक गोपों द्वारा लायी गयी सामग्रियों का उपभोग करके परम प्रसन्न हुए[44] । द्वितीय द्वारका आते हुए नारद द्वारा कृष्णा की स्तुति रूप में उक्त श्रुत्यर्थ को पुन वेदान्तदेशिक उसी रूप में प्रस्तुत करते हुए कहते है कि नाथ, यह जगत तुम्हारा ओदन है इस जगत् का नाश करते हुए मृत्यु तुम्हारे लिए उपसेचन है[45] ।

श्रुतियों से विष्णु में ही आदि और अन्त भावसिद्ध होता है। श्रुति कहती है कि अग्नि चरम देवता है, विष्णु परम देव हैं, अन्य देवता उन्ही के मध्य में हैं[46] । इसी को आचार्य वेदान्तदेशिक नारद स्तुति में कहते हैं कि तुम्हीं प्रथम और चरम देवता हो[7] ।

जिस प्रकार पक्षीसूत्र से बाध दिया जाता है उसी प्रकार परमात्मा सभी जीवों से बधा रहता है[47] । इस श्रुत्यर्थ का अनुसन्धान करके वेदान्तदेशिक कहते हैं कि परमात्मा का स्वरूप सूत्र के समान है, उसमें स्थित जीवों के साथ वह पक्षियों के समान क्रीडा किया करता है[48] । कहने का तात्पर्य यह कि सभी जीवों में व्याप्त होकर परमात्मा सब का नियमन किया करता है।

द्वारका के महलों का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि उनसे ऐसी प्रभा निकलती थी, जैसे दूसरा कोई सूर्य उदित हो गया

हो, अर्चि (अग्नि) मुख देवगणों द्वारा इसके दिव्य स्थल पूजे जाते थे, अत इसे लोग मोक्षोपयोगी निवृति धर्म में स्थित मुमुक्षुओं का नि श्रेयस् मार्ग कहते थे[50]। कहने का तात्पर्य यह कि मुमुक्षुओं के लिए अर्चिमार्ग का ख्यापन श्रुतियो में किया गया है[51]। अर्चिरादिमार्ग का सेवन करने वाले मुमुक्ष जब अपने शरीर का परित्याग करते हैं तो सूर्य की किरणों के माध्यम से ऊपर चले जाते हैं[52]। द्वारका के महलों को द्वितीय सूर्य बनाकर उनकी किरणों से मुमुक्षुओं के ऊर्ध्वमार्ग सेवन का विधान करना, यहा पर कवि को अभीष्ट है।

श्रुति कहती है कि जिस प्रकार कमल के पत्ते से जल का सश्लेषण नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्म ज्ञानी पाप कर्मो से सम्पृक्त नहीं होता है[53]। यही नहीं जिस प्रकार अग्नि में तूल राशि जल जाती है, इसी प्रकार ब्रह्मविद् के सभी पाप नष्ट हो जाते हैं[54]।

सूर्योदय से अन्धकार समाप्त हो जाने का दृष्टान्त देते हुए सुक्त श्रुतियों का स्वारस्य लेकर आचार्य व वेदान्तदेशिक कहते हैं कि सूर्य अन्धकार का नाश करते हुए उसी प्रकार निकल रहे हैं।, जिस प्रकार अन्तर्यामी परमात्मा दहृाविद्यादि उपासकों के पापराशि को समाप्त कर देता है[55]।

शास्त्रों में रथरूपक देते हुए आत्मा को रथी और शरीर को रथ कहा गया है, इन्द्रिया उस रथ के घोड़े हैं, जिनका निमयन अन्तरात्मा करता है[56]। आचार्य वेदान्तदेशिक इसका इसी रूप में उल्लेख करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार परमात्मा जीवाश्रय देहरथ में निबद्ध इन्द्रियाश्वों पर नियन्त्रण करता है, उसी प्रकार भगवान् कृष्ण अर्जुन के रथ के सारथी बने[57]।

वेद कहता है कि भगवान् के एक अश से समस्त विश्व

की सृष्टि हुई है[58]। वही अर्जुन के रथ के एक भाग में सारथी के रूप में बैठ गये[59]।

इसी प्रकार सकल्प सूर्योदय में भी शास्त्रसम्मत वचनों का आधिक्य मिलता है। श्रुतिवचन ब्रह्मवेद ब्रह्मैवभवति (मु0 3-29) निरज्जन परम साम्यमुपेति (मु0 3-1-3) इत्यादि का तात्पर्य लेकर वेदान्तदेशिक कहते हैं कि भगवान् कृपा करके अपना साम्य प्रदान करते हैं[60]। सकल्पसूर्योदय का उपसहार करते हुए आचार्य वेदान्तदेशिक विवेक द्वारा विष्णुभक्ति के लिए अश्व इव रोमाणि विधूय पाप चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्यते[61] इत्यादि श्रुति स्वारस्य से कहलाते हैं कि राहु के मुख से निकले हुए चन्द्रमा के समान जब पापरहित पुरुष को ही मैं देख रहा हूँ तो इससे बढ़कर और क्या प्रिय सम्पादित करना है[62]।

(ख) इतिहास पुराण

वेदान्तदेशिक के काव्य ऐतिहासिक एव पौराणिक उपाख्यानों तथा सकेतो से परिपूर्ण है। यादवाभ्युदय महाकाव्य में कृष्ण का चरित वर्णित होने के कारण श्रीमद्भागवत पुराण तथा महाभारत के कथानकों का आना स्वाभाविक है। हस सन्देश एक ऐतिहासिक खण्ड काव्य है। उसमें बाल्मीकी रामायण के कथा सकेतों का वर्णन है। इतिहास पुराण के अनेक वचनों का स्वारस्य लेकर अपने सिद्धान्त की स्थापना करने के कारण सकल्प सूर्यादय में भी उनका सकेत मिलता है। इस तरह इतिहास पुराण के इन सकेतों से वेदान्तदेशिक के काव्यों की गरिमा में अत्यधिक उत्कर्ष आ गया है।

अधिकाध ऐतिहासिक सकेत एक ही बार आये हैं। यदि किसी कथानक की ओर अनेक बार सकेत हुआ है तो विभिन्न दुष्टियों

से उनकी चर्चा की गयी है। अत पुनरावृति उसे नहीं कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए ययाति का उपाख्यान लिया जा सकता है। ययाति की कथा महाभारत[63] और भागवत पुराण[64] में वर्णित है। वेदान्तदेशिक ने इस उपाख्यान की ओर दो बार सकेत किया है। सर्वप्रथम उनके जन्म के विषय में कहा गया है कि उत्साह से वीर रस के समान नहुष से ययाति का जन्म हुआ, जिसने आगे चलकर इन्द्र के अर्घासन को ग्रहण किया[65] ।

द्वितीय बार कृष्ण द्वारा शासनसूत्र सचालन के विषय में है। कृष्ण ने सभी राजाओं को अपने प्रताप से जीत कर ययाति के शाप को निरस्त कर दिया[66] । उन्होंने क्षात्रवृति का परित्याग कर चुके यदुवश का ययाति के शाप सागर से उद्धार किया[67] ।

सर्वप्रथम कृष्णचरित से सम्बन्धित भागवत महापुराण में वर्णित एव वेदान्तदेशिक द्वारा उद्धृत कथाओं का सिहावलोकन कर लेने के अनन्तर अन्य इतिहास पुराणों के कथासकेतो पर विचार किया जायगा।

श्री भद्भागवत के दशम स्कन्ध में कृष्ण चरित का वर्णन किया गया है। उसी के आधार पर वेदान्तदेशिक ने अपने महाकाव्य की रचना की है अत वहा के प्रमुख स्थलों का दिग्दर्शन मात्र यहा किया जा रहा है। यादवाभ्युदय में भागवत के आधार पर कृष्ण जन्म, वसुदेव द्वारा ब्रज जाकर यशोदा की कन्या से परिवर्तन कस के हाथ से कन्या का आकाश में जाना और कस हन्ता के जन्म की सूचना, पूतनाबध, शकटनाश, यमलार्जुनोद्धार, कालियदमन, चीरहरण, गोवर्धन धारण, रासलीला अरिष्टमर्दन, धेनुकवघ, बलराम द्वारा प्रलम्बबध, अघासुर विदारण, केशीवध (9-27) अक्रूर द्वारा कृष्णराम का मथुरा लाया जाना

(9–121) कुवलयापीडवध (10–24), चाणूरवध (10–50) बलराम द्वारा मुष्टिकवध (10–51), तोसक्लादि वध (10–54), कसवध (10–57), सुदामवध (10–60), जरासन्ध द्वारा अठारह बार आक्रमण (11–5), मुचुकुन्द द्वारा काल पवन का नाश कराना (11–6), काल पवन वृत्त (11–8) द्वारका को राजधानी बनाना (11–9 से 78 तक), बलराम का पुन ब्रज में जाना, हल से यमुना को खींचकर विहार करना (11–79), बलराम को रेवती से विवाह (11–81), रूक्मिणी जन्म एव बाल्य वर्णन (सर्ग 12), रूक्मिणी हरण (सग 13), स्यमन्तकोपाख्यान, जाम्बवान से 21 दिन तक युद्ध, जाम्बवती परिणय (14–1 से 65 तक) सत्यभामा परिणय (14–70), अन्य पाच कन्याओं से विवाह (14–75), शिशुपाल वध (सर्ग 15), नरकासुर वध (सर्ग 16), पारिजात हरण एव इन्द्रकृष्ण युद्ध (सर्ग 17), बाणासुर के यहा अनिरूद्ध का बन्दी होना (18–105), कृष्ण बाणासुर युद्ध, कृष्ण शिव सग्राम (सर्ग 20) पौण्ड्रक और काशीनरेश का वध (21–1 से 45 तक) बलराम द्वारा द्विविरूद का वध (21–60), बलराम द्वारा कुरूराजधानी को खींचकर टेढ़ा करना (23–15) आदि कथाओं का वर्णन हुआ है। इनके अतिरिक्त कृष्ण चरित के विषय में अन्य सकेत भी आये है, जिनका भागवत से सम्बन्ध नहीं है अपितु महाभारत आदि ग्रथो से है। जैसे–

देवताओं ने अमृत प्राप्त करने के लिए समुद्र का मन्थन किया। जिसमें अमृत के अतिरिक्त अन्यान्य रत्न प्रकट हुए। उनमें अपने चारों दातो से भगवान शिव के आश्रयस्वरूप श्वेत गिरि (कैलास) की कान्ति को भी हरने वाला ऐरावत नामक गजराज उत्पन्न हुआ[68]।

मजराजोत्पति की कथा को ध्यान में रखकर वेदान्तदेशिक

कहते हैं कि समुद्र में एरावत के समान पुरूखा के वश में नहुष उत्पन्न हुआ[69]।

भागवत में पृथु द्वारा पृथ्वी के दोहन की कथा आयी है। वेद, मुनि गन्धर्व, राक्षस आदि ने स्वजातीय किसी विशिष्ट व्यक्ति को वत्स बनाकर पृथ्वी का दोहन किया था। उस समय पर्वतों ने हिमालय को वत्स बनाया था[70]।

हिमालय की पुत्री पार्वती के साथ शिव का विवाह तो पुराण प्रसिद्ध ही है[71]। उनसे स्कन्द का जन्म हुआ था। इस प्रकार हिमालय स्कन्द के मातामह हुए।

सात्यकि द्वारा दिग्विजय के प्रसग में हिमालय का परिचय देते हुए वेदान्तदेशिक उक्त कथाओं का भाव लेकर कहते हैं कि यह शिव के श्वशुर और स्कन्द के मातामह हिमालय पर्वत है। सभी रत्नों के उद्भव स्थान तथा धेनरूपा पृथ्वी के बछड़े है[72] ।

बाल्मीकि रामायण का सम्यक् अध्ययन होने के कारण स्थान–स्थान पर वेदान्तदेशिक की कृतियों में उसका प्रभाव झलकता रहता है। इक्ष्वाकु वशीय राजाओं का बड़ा प्रभाव था। सम्पूर्ण पृथ्वी उनके अधीन थी। प्रजापति से लेकर विजयशील इक्ष्वाकुवशीय रजाओं के दिव्य चरितों के विषय में ही रामायण की रचना की गयी[73]। किन्तु किसी व्यक्ति या वश का सब समय बराबर नहीं जाता है। वेदान्तदेशिक उक्त तात्पर्य को लेकर कहते हैं कि इच्छा मात्र से ससार को अन्यथा बना देने वाले स्वभावत महान् इक्ष्वाकु वशी राजाओं की इस दशा (सीता हरण से उत्पन्न दैन्यादि) को देखकर हस का लका जाना उचित है[74] ।

बाल्मीकि रामायण में वर्णित इक्ष्वाकुवशीय राजाओं की

महिमा को इच्छामात्र से ससार को परिवर्तित कर देने वाले आदि द्वारा व्यक्त किया गया है।

हनुमान ने लका में सीता को खोजते समय अशोक वाटिका में स्वर्ण मयी वेदियों से घिरे हुए शिशुपा (अगुरू) वृक्ष को देखा था[75] राम इसी भाव से हस से कहते हैं कि हे सोम्य, वहा तुम जानकी के दुर्जातबन्धु शिशुपावृक्ष को देखोगे, जिसकी किसी शाखा में आभूषण लटक रहे होगें[76]।

धनुषभग हो जाने पर महाराज जनक ने कहा कि है कौशिक, वीर्यशुल्का (धनुष पर प्रत्यचा चढ़ाकर पराक्रम दिखाने वाले व्यक्ति से ही सीता का विवाह होगा इत्यादि) मेरी प्रतिज्ञा सत्य हो गयी । सीता मुझे प्राणों से भी प्यारी है। इसे राम को देना चाहिए[77] ।

सीता का स्मरण करके राम कहते हैं कि उस समय हमने वीर्यशुल्क (पराक्रम) से सीता को प्राप्त किया था, वहा तुम सूर्यवश के सूचक दिव्यरत्न (सीता) को देखोगे[78]।

राम-सीता की दशाा बताते हुए कहते हैं कि वह वर्षा से व्याप्त कमलिनी के समान और विवक्षित अर्थ को न बता सकने वाली उक्ति के समान होगी[79]। इस व्याहतार्थामिवोक्तिं कथन का मूल बाल्मीकीय रामायण में ही है। आदि कवि कहते है कि अलकार हीना सीता को हनुमान बड़े कष्ट से पहचान पाये जिस प्रकार कि सस्कार हीन (व्युत्पतिरहित) वचन अर्थान्तर में चला गया हों[80]। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार किसी व्युत्पति रहित व्यक्ति द्वारा प्रयुक्त शब्द अपना विवक्षित अर्थ न देकर अर्थान्तर की प्रतीति कराने लगता है और बहुत श्रम के बाद उसके तात्पर्य को समझा जा सकता है उसी

प्रकार सीता को वे बहुत देर में पहचान पाये।

रामचन्द्र खरदूषण के वध के बाद लक्ष्मण से पूजित होकर आश्रम में प्रवेश किये थे। महर्षियों को सुख देने वाले शत्रुहन्ता राम को देखकर सीता ने प्रसन्न होकर उनका आलिगन किया था[81] । इस प्रसग का सकेत करते हुए राम का हस के प्रति कथन आचार्य वेदान्तदेशिक के शब्दों में ही दर्शनीय है-

चित्ते कुर्यात्तदपि भवती यज्जनस्थान युद्धात्

सम्प्राप्त मा दशमुखसमान्पारवित्वाखरादीन ।

शस्त्राघात स्तनकलशयोरूष्मणा रोपयद्भि

गाढाश्लेषैरपिहितवली गद्गदा हर्षबाष्पै ।। ह0स0 2- 45

इसी प्रकार राम द्वारा प्रेषित सन्देश पूर्व घटनाओं के अनुस्मरण से पूर्ण होने के कारण बाल्मीकि रामायण में वर्णित कथाशों का निर्देश करता है। जैसे इन्द्र द्वारा चुराये गये घोड़े की खोज में अतुलित बलशाली हमारे पूर्वजों द्वारा समुद्र खोदकर बढ़ाया गया[82]। इत्यादि के सगर के पुत्रों द्वारा समुद्र के खने जाने की कथा सूचित की गयी है[83] ।

विभीषण को आश्रय देने के प्रसग में भगवान् राम कहते हैं कि यदि कोई मित्र भाव से आया है तो उसका कभी त्याग नहीं कर सकते । यदि उसमें दोष है तो भी उसके ग्रहण महापुरूषों के लिए अनिन्दित है[84] । इसी प्रतिज्ञा के अनुरोध से वेदान्तदेशिक के शब्दों में इन्द्र कृष्ण से प्रार्थना करते हैं कि शरण में आए हुए (दास्यस्वीकार करने वाले) दु खी देवताओं पर दोष का तिरस्कार कर देने में साक्षिणी (विभीषणवृत) अपनी दया दृष्टि कीजिए[85] ।

उक्त बाल्मीकीय रामायणोक्त राम की प्रतिज्ञा का स्मरण

दिलाते हुए इन्द्र कहते है कि नाथ, आपका तो यह निश्चय है कि आप मित्र भाव से आये हुए व्यक्ति का कभी परित्याग नहीं करते हैं[86]।

भगवान् राम कहते हैं कि शत्रु आर्त हो या दृप्त हो, यदि शरण में आ जाय तो अपने प्राणों का त्याग करके भी उसकी रक्षा करनी चाहिए[87]।

विश्वामित्र ने शुन शेप की रक्षा की थी[88] । कपोत ने अपने प्राणों की आहुति देकर घर आये हुए पत्नी का हरण करने वाले अतिथि की क्षुधा मिटायी थी[89] । राघवराम ने शत्रु विभीषण को शरण प्रदान की थी[90] ।

उक्त आदर्शो का स्मरण करते हुए वेदान्तदेशिक कहते हैं-

दीनों दृप्यतु वापराध्यतु पर व्यावर्तता वातित-

स्त्रातव्य शरणागत शकनत सद्भिस्तथा स्थाप्यते।

विश्वामित्र कपोत राघवरघुव्योमाध्वगप्रेयसी

नालीजघवृहस्पतिप्रभृतिभिर्नन्वेष घण्टापथ ।।

स0सू0 1-85

खर से युद्ध करते समय राम दो तीन पग पीछे हट्गये थे[91]। उन्होंने बालि से अकारण शत्रुता करके उसका वध किया था[92]। शूपर्णखा को कुरूपा बनाने के लिए लक्ष्मण को आदेश दिया और लक्ष्मण ने उसकी नाक और कान काट दिया[83]। राम के उपर्युक्त चरितों का उल्लेख करते हुए वेदान्तदेशिक कहते हैं कि अनन्तगुणशाली राम में लोग शूपर्णखा को विरूप बनाने, बालि से द्रोह करने और खर युद्ध में पीछे खिसकने का दोष लगाते हैं तो प्रकट रूप से दोष दिखायी पड़ने वाले अन्य लोगों के विषय में भला क्यों उदास होंगें[84]?

एक बार कार्तवीर्य (सहस्रार्जुन) से युद्ध करने के लिए

रावण माहिष्मती गया[85] । उस दिन कार्तवीर्य विहार करने के लिए स्त्रियों के साथ नर्मदा नदी गया था। उसके मन्त्रियों से यह समाचार जानकर रावण नर्मदा के तट पर जा पहुँचा। शिव की उपासना करने के लिए रावण ने पुष्पादि सामग्री एकत्र की थी वह कार्तवीर्य द्वारा अपनी सहस्र भुजाओ से नर्मदा की धारा रोक देने पर बह गयी। रावण क्रुद्ध हो गया। मन्त्रियों के पराजित हो जाने पर कार्तवीर्य स्वय युद्ध करने लगा। उसने सहस्र भुजाओं से बलपूर्वक रावण को पकडकर उसी प्रकार बाध लिया जिस प्रकार नारायण ने बलि को बाधा था[96]।

इसी कथा का उल्लेख करते हुए वेदान्तदेशिक कहते हैं कि नर्मदा मे विहार करने वाले यादवों से तपस्वियों ने प्रत्यचा से रावण को बाधकर जलक्रीड़ा करने वाले कार्तवीर्य का वृत्तान्त बताया[97] ।

इसी प्रकार वेदान्तदेशिक के काव्य बाल्मीकीय रमामयण के अनेक सकेतों से युक्त है। विस्तार भय से सब का उल्लेख न करके अपर इतिहास ग्रथ महाभारत को ग्रहण किया जाता है।

कौरवों एव पाण्डवों के युद्ध में अभिमन्यु के मारे जाने पर अर्जुन ने सूर्यास्त के पूर्व जयद्रथ का वध करने की प्रतिज्ञा की। युद्ध भूमि में आते ही उन्होंने जयद्रथ के पास रथ ले चलने के लिए कृष्णा से कहा ताकि वह अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर सके। अर्जुन को उधर जाता देखकर दुर्योधन, कर्ण, वृषसेन, शल्य, अश्वत्थामा, कृपाचार्य और स्वय जयद्रथ जैसे कौरवों की सेना के वीर आगे आ गये[98]। भीषण युद्ध होने लगा। इन 6 वीरों के बीच जयद्रथ अपने प्राणों की रक्षा के लिए खड़ा था। कृष्ण ने अर्जुन से कहा कि इन वीरों का वध किये बिना जयद्रथ मारा नहीं जा सकता है अत मैं सूर्य को छिपाने के लिए एक योग (माया) करता हूँ जिससे अकेला जयद्रथ यह

समझेगा कि सूर्य अस्त हो गया है। फिर वह प्रसन्न होकर तुम्हारे सामने आ जायगा और उन महारथियों से अपने को अरक्षित कर लेगा[99] । अतत ऐसा ही हुआ। जयद्रथ मारा गया।

इसी का उल्लेख करते हुए वेदान्तदेशिक कहते हैं कि भगवान् कृष्ण प्रपन्न की रक्षा करने में घृतव्रत हैं, उन्होने सूर्य के अस्त न होने पर भी दूसरे को मुग्ध करने के लिए घोरान्धकार की सृष्टि करके सुहृद् अर्जुन की प्रतिज्ञा पूरी करायी[100] ।

महाभारत युद्ध-काल में अर्जुन शिव के लिए सगृहीत पूजा सामग्री कृष्ण को समर्पित करके पाशुपत अस्त्र प्राप्त करने के लिए कैलास पर गये। उन्होने शिव के समीप उसी सामग्री को देखा। आश्चर्य में पड़ने के साथ-साथ उन्होने कृष्ण को साक्षात् अपरिच्छिन्न परब्रह्म समझा[101] ।

वेदान्तदेशिक ठीक इसी रूप में इस वृत्त का उल्लेख करते हैं--

निवेशिता तस्य पदै चपूजा निशाम्य गगामिव चन्द्रमौली ।

अनन्यसामान्यममस्त सख्यु सकोचवैदेशिकमीश्वरत्वम् ।।या0 2 3-4 2

भक्तवत्सल भगवान् न केवल भक्तों की प्रतिज्ञा पूरी करते हैं, अपितु उनकी प्रतिज्ञाा पूरी करने के लिए अपनी प्रतिज्ञा का परित्याग भी कर देते हैं । जब क्रुद्ध होकर भीष्म ने कृष्ण से अस्त्र ग्रहण कराने की प्रतिज्ञा करके पाण्डवों की सेना का भीषण सहार प्रारम्भ किया तो कृष्ण से नहीं देखा गया । भीष्म की प्रतिज्ञापूर्ति के लिए तथा कौरव सेनाा के विनाश के लिए उन्होंने अपना चक्र उठा लिया[102]। इसी आख्यान का स्वारस्य लेकर कवि कहता है कि शत्रुओं का बध करने से विरत होने के कारण रथ में रखे हुए चक्र को ग्रहण करते हुए कृष्ण ने शरणागत (कृष्ण से अस्त्रग्रहण कराने) की रक्षा के

लिए अपनी प्रतिज्ञा (अस्त्र न ग्रहण करना) का परित्याग कर दिया[103]।

सर्वमेध नामक यज्ञ मे महात्मा महादेव ने अपनी ही आहुति देकर देवदेव पद प्राप्त किया था ऐसा महाभरत मे उल्लेख किया गया है[104]। शिशुपाल को समझाते हुए भीष्म कहते हैं कि सर्वमेध याग करने वाले शिव ने आत्म नामक हवि की स्वय आहुति देकर इन्हीं कृष्ण के द्वारा देवों के भी देव हो गये तो क्या वही कृष्ण हम मनुष्यों द्वारा अपूजनीय हैं ? अर्थात उनकी पूजा तो हमे करनी ही चाहिए[105]। जो आत्मा के यथार्थ स्वरूप को न जानकर अन्य रूप से समझता है वह चोरी करता है आत्मा का अपहरण करने वाले (यथार्थरूप न जानने वाले) उस चोर के द्वारा क्या पाप नहीं किया गया[106] ?। कहने का तात्पर्य यह कि जो आत्मा (परमात्मा–जीवात्मा) के वास्तविक स्वरूप को नहीं जानता, वह पाप का भागी बनता है।

उक्त तात्पर्य वेदान्तदेशिक ने तीन स्थलों पर अपना विचार प्रकट किया है। युद्ध में पराजित इन्द्र कृष्ण की स्तुति करते हुए कहते हैं कि नाथ बाल्यावस्था से ही ससार में विदित आप (परमात्मा) की इस प्रकार (पूतनावर्ध, यमलार्जुनमोक्ष आदि) की महिमा को न समझने वाला चोर निश्चय ही सूर्य मण्डल को छिपाना चाहता है[107]।

यहा पर उक्त वचन का अनुशीलन करके कृष्ण के वास्तविक परब्रह्मरूप को न जानने वाले को चोर (तस्कर) कहा गया है।

कृष्ण इन्द्र को आश्वासन देते हुए कहते हैं – इन्द्र तुम्हारा कल्याण हो, देवगण विषद्रहित होकर निवास करें। आत्म चौर्य (अन्यथा ज्ञान) रूप पाप सघ का परित्याग करने वाले तुम लोगों (देवों) के पदों को असुर अपहरण न करें[108] ।

यहा पर देवों को आत्म चौर्य से रहित अर्थात् परमात्म

यथार्थ ज्ञान से मुक्त बताया है।

इसी प्रकार आत्मचौर्य को दु ख रूप नरक में गिरने वाले पापों में सबसे बड़ा पाप बताया है[109] ।

कहने का तात्पर्य यह कि आत्मा में अन्यथा प्रतिपति न केवल चौर्य है अपितु महापातक भी है।

महाभारत में स्पष्टरूप से कहा गया है कि कृष्ण द्वैपायन व्यास साक्षात् नारायण हैं। उन परमात्मा के अतिरिक्त महाभारत का रचयिता भला और कौन हो सकता है[110] । इसके अतिरिक्त पचमवेद के रूप में महाभारत की प्रामाणिकता का भी वहीं से प्रतिपादन होता है[111] ।

वेदान्तदेशिक कहते हैं कि सामान्य और विशेष धर्म का पृथक्-पृथक् निरूपण करने वाली जो गीतोपनिषद् भगवान् से प्रादुर्भुत हुई थी उसे महाभारत वेद के वक्ता व्यास रूप में स्वय उन्होने ही ग्रहण किया[112] । कहने का तात्पर्य यह कि युद्धकाल में कृष्ण द्वारा उक्त श्लोकों को ही व्यास ने महाभारत में उद्धुत किया है, क्योंकि वे स्वय कृष्ण ही हैं।

यक्ष द्वारा चार प्रश्न किये जाने पर क पन्था का उत्तर देते हुए युधिष्ठिर ने कहा कि इस विषय में तर्क स्थिर नहीं हो पाते है अर्थात तर्क के द्वारा निर्णय नहीं किया जा सकता । श्रुतिया विभिन्न अर्थो का प्रतिपादन करती हैं। ऐसा कोई ऋषि नहीं है, जिसके वचनों को प्रमाण रूप में सभी स्वीकार करते हों। इस प्रकार धर्म का रहस्य बहुत गूढ़ है, उसे समझना बहुत कठिन है, अत महापुरूष जिस मार्ग का आश्रयण कर चुके हों, उसी मार्ग पर चलना चाहिए। वही रास्ता है[113] ।

उक्त अर्थ को ही वेदान्तदेशिक अपने नाटक में विवेक द्वारा प्रतिपादित कराते हैं। पुनरुक्ति से बचने तथा उनकी भाषा में सुप्रतिपादित होने के कारण उसी रूप में दर्शनीय है।

तर्कोन प्रतितिष्ठति प्रभवति त्रय्यापि वैयाकुली।
क्षोभ यान्ति मिथ क्षता ऋषिगिर क्षुद्रोक्तय कि पुन ।
इत्थ तत्त्वविनिश्चयों विधिरिव क्षिप्तो गुहाभ्यन्तरे
पन्थान तु महाजनस्य निपुण प्रत्यचमध्यचति ।।

स0सू0 1-90

भगवान् नारायण का परम धाम ब्रह्मा के सदन से उत्कृष्ट रूप में प्रकाशित रहता हैं। तेजोमय इस शुभ स्थान पर देवता भी नहीं जा सकते है। भगवान् विष्णु का स्थान सूर्य और अग्नि से अधिक प्रकाशित रहता है। वहा भक्त मुनि लोग शुभ कर्मो से प्रेरित एव उत्कृष्ट तप से युक्त होकर जाते हैं। वहा पहुचकर फिर इस ससार में नहीं आते हैं। वह स्थान ध्रुव, अक्षर और अव्यय हैं[114] । इस परमध ाम का स्मरण कर वेदान्तदेशिक कहते हैं कि भगवान् उस परमरम्य धाम में भेजने के लिए जीव को सुषुम्ना नाड़ी में प्रविष्ट कराते हैं[115] ।

प्रलयकाल में पृथ्वी महासमुद्र में डूब जाती है। पूर्वकल्प के समाप्त हो जाने पर नारायण सोकर उठते हैं और पृथ्वी के उद्धार की कामना करते हैं। उन्होंने पूर्वकल्पों में जिस प्रकार मत्स्य, कूर्मादि शरीर धारण किया था उसी प्रकार इस कल्प में बाराह का शरीर धारण किया और जल में प्रविष्ट हो गये। कमल पत्र के समान स्निग्ध श्याम प्रफुल्ल कमललोचन महाबराह पृथ्वी को दात पर उठाकर महान नीलाचल के समान रसातल से ऊपर आये[116] ।

इस प्रसग का स्वारस्य लेकर प्रभातकाल का वर्णन करते हुए वेदान्तदेशिक कहते हैं कि वराह शरीर धारी नारायण द्वारा चिरकाल से समुद्र में डूबी हुई पृथ्वी के समान प्रभातकाल द्वारा अन्धकार में निमग्न पृथ्वी बाहर लायी जाती है[117] ।

ब्रह्मा तथा अन्य सभी देव नारायण से अपने पदों पर अधिष्ठित होकर ततत्पदों का भोग करके अत में परम पद प्राप्त करते हैं[118]। इस पुराण वचन का आनुकूल्य लेकर वेदान्तदेशिक इन्द्र द्वारा कृष्ण भगवान् की स्तुति कराते हुए कहते हैं कि हम सब इन इन्द्रादि आधिकारिक पदों पर यावदधिकार अधिष्ठित है, आपके द्वारा प्रदत्त आपके परम पद का हम अनुभव करें क्योंकि हम सब आपके ही समीप निवास करते हैं[119] ।

इस कथन का समर्थन 'यावदधिकारभवस्थिति राधिकारिकाणाम्[120]' इत्यादि वादरायण सूत्र से भी होता है।

चन्द्रमा ने भाद्रशुक्ल चतुर्थी को मन्दाकिनी पर स्नान करती हुई गुरूपत्नी तारा का हरण कर लिया[121] । तारा द्वारा बहुत समझाये जाने पर भी वह नहीं माना। देवताओं ने विशाल सेना के साथ वृहस्पति पर आक्रमण किया। इसी बीच चन्द्रमा बलि के घर से वापस जाते हुए शुक्राचार्य की शरण में चला गया। शुक्र ने शकर की प्रार्थना की। चन्द्रमा शकर की शरण में चला गया। शकर ने उससे कहा तुमने भाद्रशुक्ल चतुर्थी को गुरूपत्नी का हरण किया है अत इस तिथि को जो तुम्हें देखेगा, उसे पाप लगेगा[122] ।

वेदान्तदेशिक चन्द्रमा के इस शाप से परिचित थे। यदु का परिचय देते हुए वे कहते हैं कि वे सदाचार हीन पुरूष की विद्या का बहुत सम्मान नहीं करते थे। क्योंकि क्या निर्मल होने के कारण

(भाद्रपद शुक्ल) चतुर्थी का ग्रहण किया जा सकता है[123] ?। अर्थात् जिस तरह चतुर्थी का चन्द्र दर्शन त्याज्य है, उसी प्रकार आचारहीन की विद्या को भी वे तुच्छ समझते थे।

भगवान् कृष्ण विद्याध्ययन करने के लिए सान्दीपनि ऋषि के पास गये थे। उन्होंने एक मास में ही चारों वेदों का अध्ययन कर लिया और गुरुदक्षिणा के रूप में पूर्वकाल में मृत गुरु-पुत्र को लाकर प्रदान किया था[124]। इसी का वर्णन करते हुए आचार्य वेदान्तदेशिक कहते हैं कि धनुर्वेद की शिक्षा देने वाले सान्दीपनि को परम पद प्राप्त किये हुए उनके पुत्र को दक्षिणा के रूप में दिया[125] ।

(ग) धर्मशास्त्र

भगवान् कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि हे अर्जुन, मैं वेद, तपस्या, दान, मन से इस प्रकार नहीं देखा जा सकता हूँ। केवल अनन्य भक्ति के द्वारा ही मैं इस प्रकार (चतुर्भुज रूप में) जाना, देखा और प्राप्त किया जा सकता हूँ[126] ।

इसी का स्वारस्य लेकर आचार्य कहते हैं कि इस ससार मरुस्थली में परिश्रान्त प्राणियों के लिए आपकी भक्ति सुधा नदी में अवगाहन ही उपाय बताया गया है, अर्थात् इस ससार से छुटकारा पाकर आपको प्राप्त करने का मार्ग केवल आपकी भक्ति ही है[127]। इसी आशय से उन्होने सकल्पसूर्यादय में स्पष्टरूप से कहा है कि-

किंविज्ञानै कि तपोदान यज्ञै कि वान्येचय त्वत्परित्यागदीनै ।
ज्ञातु द्रष्टु तत्त्वतश्च प्रवेष्टु शक्य ब्रह्मानन्यभाजा त्वयैव।। 10/94

श्रीकृष्ण ने कहा है कि दुष्कर्म करने वालों के विनाश

तथा धर्म की स्थापना करने के लिए वह पृथ्वी पर बार-बार अवतार लिया करते हैं[128]। यादवाभ्युदय में भी देवों को आश्वासन देते हुए भगवान् विष्णु कहते हैं कि देवों, मेरा अवतार पृथ्वी का भार (दुष्ट राजाओं के वध द्वारा) उतार कर अनादिकाल से चले आ रहे और अनन्तकाल तक चलने वाले धर्म की स्थापना करेगा[129]।

भगवान् के सर्वान्तर्यामी होने के कारण सभी प्राणी उनके शरीर हैं। अत जो भक्त श्रद्धा से जिस किसी भी (राम, शिव, इन्द्रादि) शरीर का पूजा करना चाहते हैं, उन भक्तों की तत्त् शरीरों (देवों) में ही भगवान् अचल श्रद्धा स्थापित कर देते हैं[130]।

भगवान् के जन्म और कर्म दिव्य (असामान्य) हैं। इन्हें जो यथार्थ रूप में जानता है, वह शरीर का त्याग करने के अनन्तर फिर जन्म नहीं ग्रहण करता है, अपितु वह मुक्त होकर परमात्मा को प्राप्त कर लेता है[131]।

यह भगवान् कृष्ण का ही वचन है। इसी का तात्पर्य लेकर इन्द्र द्वारा की गयी कृष्ण की स्तुति में वेदान्तदेशिक कहते हैं कि जो आपके जन्म कर्म को यथार्थ रूप में नहीं जानता है वह जन्म कर्म के बन्धन में बधा करता हैं अर्थात् उसे बार-बार ससार में जन्म लेना पड़ता है, किन्तु जो आपके कथामृत रस का पाप करते हैं, उन्हें फिर शिशु नहीं बनना पड़ता है अर्थात् वे जन्म कर्म बन्धन से मुक्त हो जाते हैं[132] ।

स्थितप्रज्ञ जब परमात्मा का साक्षत्कार कर लेता है तो अन्य विषयों से उसका राग भी समाप्त हो जाता है[133] ।

उक्त भगवदुक्ति की अनुकूलता से समुद्र का वर्णन करते हुए वेदान्तदेशिक कहते हैं कि स्वभावत नारायण का प्रीतिगोचर

(शयनस्थान) यह समुद्र श्रेष्ठ गगादि जलों से भरा जाता हुआ देखे जाने पर अन्य विषयों में उसी प्रकार इन्छा नहीं उत्पन्न करता है, जिस प्रकार कि परमात्मा का साक्षात्कार कर लेने पर अन्य विषयों को देखने की इन्छा नहीं होती है[134]।

यहा आत्मदर्शन का उपमान रूप में प्रस्तुत करके अन्य विषयों से रामरहित दिखाया गया है।

कृष्ण ने विवाद करने वालों में अपने को वाद कहा है[135]। अर्थात् कृष्ण स्वरूप होने के कारण यह सर्वश्रेष्ठ है। वेदान्तदेशिक ने इसे बीतराग कथा अर्थात् तटस्थ भाव से प्रतिपादित सिद्धान्त कहा है[136]। कहने का तात्पर्य यह कि विवेचना करने वालों में वाद सर्वश्रेष्ठ हैं।

विवेक शिष्य को सम्बोधित करके इसी आशय से कहता है कि प्रकृष्ट रूप से वाद करने वालों में जो प्रभु (सर्वश्रेष्ठ) हुआ वह वाद तुम हो[137]।

इसी प्रकार स्थल-स्थल पर श्रुति स्मृति पुराणों की स्पष्ट छाया तथा कथा उनके काव्यों में मिलती है।

(घ) नाट्य शास्त्र (संगीतशास्त्र)

आचार्य वेदान्तदेशिक नाट्यशास्त्र से परिचित थे या इसमें पारगत थे, यह कहने की तो आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि नाट्यशास्त्र के समस्त लक्षणों से युक्त नाटक की उन्होंने स्वय रचना की है। उनके श्रव्यकाव्य में भी नाट्यशास्त्र के कुछ प्रकरणों का यत्र-तत्र उल्लेख हुआ है, उन्हीं पर यहा विचार किया जायगा।

नाट्यशास्त्र को वेद कहा जाता है। ब्रह्मा ने सभी शास्त्रों के अर्थ से सम्पन्न, सभी शिल्पों के प्रवर्तक एव इतिहास युक्त नाट्य नामक पचमवेद की रचना करने का सकल्प किया और चारों वेदों का स्मरण करते हुए उनके अगो से उत्पन्न नाट्यवेद की सृष्टि की[138] ।

सगीत (नृत्य, वाद्य, गीत) आदि से भी वेदान्तदेशिक सुपरिचित थे। उन्होने स्थान-स्थान पर इनके भेदों का भी सकेत किया है। कालियनाग को नाथ लेने के बाद उसके फणसमूह पर एक साथ ही चारी विशेष से नृत्य करते हुए कृष्ण देखे गये[140]। नृत्य के समय में एकसाथ पादाग्र, जघा, उरू और कटि की चेष्टाओं को चारी कहते है[141] । कृष्ण ने उसके शिर को रगस्थल बना लिया, तरगे मृदग का नाद निष्पन्न करने लगी, देवगण प्रशसा करने लगे तो उन्होंने अव्याहतरूप से आरभटी रूप नृत्य विशेष प्रस्तुत किया[142]। जब सरम्भ का वेगाधिक्य हो जाता हैं तथा विभिन्न प्रकार की चारी से समुत्थित विचित्र कारणों से युक्त नृत्य प्रस्तुत किया जाता है तो उसे आरभटी कहते हैं[143] ।

नृत्य, वाद्य और गीत के समूह को सगीत कहा जाता है[144]। गोवर्धन पर्वत पर नदियों ने अपने तरगो से लास्यनृत्य प्रस्तुत किया, निर्झर दुन्दुभी ने वाद्य का काम किया, भ्रमरों ने गीत प्रारम्भ किया, जिससे कृष्ण के स्वागत में गोवर्धन द्वारा उपस्थित किये गये सगीत की प्रतीति हुई[145]।

गोवर्धन की अधित्यकाओं में घूमते हुए बलराम एव कृष्ण को देखकर मयुरों ने अतर्कित समुपस्थित मेघ समझकर अपने निनाद से षड्ज स्वर में गीत सम्पादित करते हुए नृत्य करना प्रारम्भ कर दिया[146]। मयूरों का षड्ज स्वर में बोलना प्रसिद्ध है[147] ।

(ङ) कामशास्त्र

वेदान्तदेशिक सगीत शास्त्र के साथ-साथ कामशास्त्र के भी पारगत विद्वान् थे। उन्होने नायिकाभेदों, सात्विकभावों तथा कामक्रीडाओं का यथास्थान बहुत सुन्दर चित्रण किया है।

काम की पारिपार्श्विक समृद्धि का वर्णन करते हुए कवि ने नारद द्वारा उनका सुन्दर रूप प्रस्तुत किया है। काम के चारों ओर पद्मिनी, चित्रिणी, शखिनी और हस्तिनी स्त्रिया विद्यमान हैं[148] । स्त्रियों के ये भेद कामशास्त्र में वर्णित हैं। जिन स्त्रियों के मुख एव शरीर से पद्म की गन्ध के समान सुगन्ध निकलती है, उन्हें पद्मिनी, जिनके शरीर से मधु गन्ध के सदृश गन्ध आती है उन्हें चित्रिणी, क्षार सदृश गन्ध वाली स्त्रियों को शखिनी तथा निम्बगन्धा स्त्रियों को हस्तिनी कहा गया है[149] । उक्त नायिकाओं के अन्य प्रकार से भी विभिन्न ग्रन्थों में लक्षण किये गये हैं।

तुम्बुरु ऋषि मुग्धा, प्रगल्भा नायिकाओं की सेना के साथ विवेकाभिमुख काम के गमन की सूचना देते हैं[150] । नायिकाओं के ये भेद भी कामशास्त्र में अतिप्रसिद्ध है। अभिनव यौवन वाली एव लज्जा से काम को जीतने वाली नायिका को मुग्धा कहा गया है। प्रकट यौवन वाली और अल्प लज्जा करने वाली स्त्री को मध्या कहते हैं। सम्पूर्ण यौवन से युक्त और कामाधिक्य से लज्जा को दबा देने वाली नायिका को प्रौढ़ा काह गया है[151]। ये नायिकायें काम की वृद्धि करने के कारण उसकी सेना के रूप में वर्णित हुई हैं। आगे नारद कहते हैं कि स्वाधीन वैभव एव सम्पूर्ण शक्ति सपन्न स्वय काम ही यदि युद्ध कर रहा है तो मुग्धा (तरुणी), मध्या, प्रौढा की क्या आवश्यकता है।

उसके लिए तो वृद्धा भी विजयशील अस्त्र ही है[152] । यहा पर वृद्धा भी जैत्र अस्त्र है, कहने से यह ध्वनित होता है कि कामशास्त्र में यद्यपि वृद्धा के साथ गमन का निषेध किया गया है[153] । किन्तु काम के स्वय योद्धा होने पर वह भी दूसरों को जीतने के लिए पर्याप्त है।

कामशास्त्र में मार्ग में चलने से थकी हुई, नवीन ज्वर वाली, नृत्य के कारण ढीले अगो वाली, एकमास पूर्व सन्तानोत्पति करने वाली तथा छ मास के गर्भ वाली स्त्री को सुरतकाल में सुख प्रदान करने वाली बताया गया है। इसी प्रकार विरह के बाद मिलने पर क्रुद्ध होने के अनन्तर प्रसन्न होने पर, ऋतुस्नान करने पर प्रथम मिलन के अवसर पर एव मदिरा पान करने पर स्त्रियों में रागाधिक्य देखा जाता हैं[154] । तुम्बुरू विवेक एव काम के युद्ध का वर्णन करते हुए कहते हैं कि उन्मत काम ऋतु स्नाता, नृत्त्श्लथतनु, अध्वक्षमवती, मदोन्मत, क्रुद्धप्रसन्ना तथा इसी प्रकार की अन्य स्त्रियों के झुण्ड के सहित विवेक से युद्ध करने की इच्छा कर रहा है[155]।

सात्विक भावों का भी यथोचित चित्रण वेदान्तदेशिक के काव्यों में मिलता है । कृष्ण को रूक्मिणी ने जब सर्वप्रथम देखा तो उनकी विचित्र दशाहोने लगी । बिना धुप के पसीने से लथपथ, बिना भय से उत्पन्न कम्प धारण किए हुए,अनुष्ण अश्रुओ के सचार से निरूद्ध दृष्टि रूक्मिणी को देखकर कृष्ण आनन्दित हुए[156]। इसमें स्वेद, वेपथु और अश्रुनामक सात्विक भावों का उदय दिखाया गया है, क्योकि स्तम्भ, स्वेद, रोमाच, स्वरभिन्नता, कम्प, लज्जा अश्रु और मूर्छा नामक आठ सात्विक भाव बताये गये हैं[157]।

तारूण्यावस्था में स्त्रियों के मुख तथा शरीर मे विशेषरूप से परिवर्तन आ जाते हैं। इनमें तीन (हेला, हाव, और भाव) अगज,

दश, (लीला, विलास, विच्छिति, विभ्रम, किलिकिंचित मोट्टामित, कुट्टमित, विव्वोक ललित और विहृत) स्वभावज और सात (शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य धैर्य, प्रागल्भ्य और औदार्य) अयत्नज हैं[158]। इन विकारों में किलिकिंचित् का प्रयोग दो बार वेदान्तदेशिक ने किया है किन्तु वह भी स्त्री के स्वभावज विकार के रूप मे नहीं, अपित कस और कृष्ण के युद्ध के समय[159] तथा बाणासुर और कृष्ण के युद्ध के समय[160] दर्शको मे प्रकट होने वाले भावों को किलिकिंचित् कहा है । यह एक विचित्र भाव है। उक्त दोनों स्थलों पर दर्शकों में हर्ष के साथ इनमें से अनेक भावों का प्रकट होना स्वाभविक है । अत किलिकिंचित् का प्रयोग किया गया है।

प्राय सभी कवियों ने स्त्रियों के कटाक्षों का यथावसर वर्णन किया है । स्त्रियों के कटाक्ष विशेष का ही एक विशेष रूप आकेकर कहा गया है। जब पलकों के कोनों को कुछ सकुचित करके अभीष्ट वस्तु को देखते हुए बार-बार पुतलियों का सचालन किया जाता है तो उस दृष्टि को आकेकर कहते हैं[161]। इसका प्रयोग भी वेदान्तदेशिक ने दो बार किया है। 'रूक्मिणी को देखने पर कृष्ण एकक्षण में ही उसके अनेक आकेकरों के लक्ष्य बने[162] । तथा कृष्ण का देखना (निरीक्षण) आकेकर रूपप्रियतमाजन की दृष्टि से अनुभव करने योग्य है[163] अर्थात् प्रियतमायें अपने आकेकर रूप दृष्टि से कृष्ण के निरीक्षणों का आनन्द लेती हैं ।

(च) ज्योतिषशास्त्र

ज्योतिष के गणित एव फलित दो अग हैं। ग्रह नक्षत्रों की गति तथा उनके प्रभावादि का अध्ययन इसके अन्तर्गत आता है। आधुनिक प्रचलित रूप में सामुद्रिक शास्त्र, शकुन आदि का विचार भी ज्योतिष की सीमा से परे नहीं है । वेदान्तदेशिक के काव्यों का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि उन्हें ज्योतिष शास्त्र का सम्यग्बोध था। कृष्ण का जब जन्म हुआ तो पाच ग्रह अपने उच्चस्थानों पर स्थित थे[164]। यहा पर सक्षेप में ही उन्होंने ज्योतिष शास्त्र का पाण्डित्यपूर्ण परिचय उपस्थित किया है। मेष, वृष, मकर, कन्या, कर्क, मीन और तुला राशि क्रम से सूर्य, चन्द्र, भौम, बुध, गुरू शुक्र तथा शनि के उच्च स्थान हैं[165]। वेदान्तदेशिक कहते हैं कि कृष्ण के जन्म काल (भाद्रपद कृण्णाष्टमी) में पाच ग्रह अपने उच्च स्थान पर स्थ्ति थे । विचारणीय विषय यह है कि पाच ग्रहों की ही उच्च स्थान पर स्थिति उन्होंने क्यों बतायी ? क्या इससे अधिक ग्रह एक साथ उस समय में अपने उच्चस्थानों पर नहीं आ सकते थे ? इसके लिए ग्रहों का राशियों पर भोगकाल जानना आवश्यक है। ज्योतिष के अनुसार शुक्र, बुध और सूर्य एक-एक महीना, मगल डेढ़ महीना, बृहस्पति एक वर्ष, राहु डेढ़ वर्ष और शनि ढाई वर्ष तक एक राशि पर रहता है , चन्द्रमा सवा दो दिन एक राशि पर रहता है ,ऐसा विद्वानों ने कहा है[166]। ग्रहों के भोगकाल को ध्यान में रखकर यदि विचार करें तो सूर्य का भेगकाल एक मास है और वह मेष राशि पर स्थित होने पर उच्च स्थानपर आता है । इसी प्रकार शुक्र का एक राशि पर भोगकाल एक मास है और वह मीन राशि पर स्थित होकर उच्च स्थान प्राप्त करता है। मेष और मीन राशिया भाद्रपद से बहुत दूर अर्थगत्

फाल्गुन चैत्र के लगभग पड़ती हैं। अत कृष्णजन्म काल में सूर्य और शुक्र अपने उच्च स्थान पर रहना कथमपि सम्भव नहीं है। शेष पाच ग्रह उस काल में अपने उच्च स्थानों पर रह सकते हैं । इस ज्योतिष शास्त्र विषयक विस्तृत ज्ञान को उन्होंने सिद्धपचग्रहोंच्चै के द्वारा अत्यन्त सक्षेप में अपने महाकाव्य में उपस्थित किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अनेक शास्त्रों के अध्ययन से उद्भूत व्युत्पति का दर्शन वेदान्तदेशिक के काव्यों में स्थान-स्थान पर होता है। उपरिलिखित शास्त्रों तथा स्थलों के अतिरिक्त आयुर्वेद, इन्द्रजाल, सामुद्रिकशास्त्र, वास्तुशास्त्र, कृषिशास्त्र, युद्धविद्या आदि में उनके पारगत होने का बोध भी उनके ग्रन्थों के अध्ययन से होता है ।

उद्धरणानुक्रमणिका

1— स सू 1/12 पूर्व गद्य
2— स सू 1/13 पूर्व गद्य
3— सावित्रया ऋषिविश्वामित्र विनियोग गायत्री मन्त्र
4— स सू 1/13 पूर्व गद्य
5— स सू 1/12 पूर्व गद्य
6— स सू 1/12 पू गद्य
7— स सू 1/14 घण्टा हरे समजनिष्टपदात्मनेति।
8— वेदान्ताचार्य जननी वरपुत्राभिलाषिणी। स्वप्ने श्री वेकटेर्शन दत्ता घण्टा निगीर्यसा।।
दधार गर्भमतुल द्वादशाब्द पतिव्रता। ततो जज्ञे गुरूपय वेदान्ताचार्य शेखर ।।
ऐतिह्य स सू 1/14 प्रभावली
9— स सू 2/15
10— विंशत्यव्देविश्रुत नीनाविधविद्य— स सू 1/15
11— स सू 2/50
12— स सू 2/42
13— स सू 2/19
14— त्रिशद्वार भवितशारीरकभाष्य— स सू 1/15
15— सकल्पसूर्योदय पृ 564
16— सकल्पसूर्योदय पृ 557
17— सकल्पसूर्योदय पृ 1089
18— सकल्पसूर्योदय पृ 624
19— सकल्पसूर्योदय पृ 612
20— सकल्पसूर्योदय पृ 573
21— सकल्पसूर्योदय पृ 579
22— सकल्पसूर्योदय पृ 660
23— सकल्पसूर्योदय पृ 582
24— सकल्पसूर्योदय पृ 598
25— सकल्पसूर्योदय पृ 663
26— अभीतिस्तव — 29
27— अष्टभुजाष्टक — 10
28— यादवाभ्युदय प्रस्तावना पृ0 13
29— व्युत्पत्यभ्याससस्कृता प्रतिभास्य हेतु । (काव्यानुशासन प्रथमाध्याय)
30— विद्यासम्पन्निघिखहितो वेंकटेश कवीन्द्र— स सू 1/11
31— चन्द्रमा मनसो जात — ऋ0 10
32— जगदाहलादनो जज्ञे मनसस्त्स्य चन्द्रमा — या 1/10
33— अस्ति ब्रह्मति चद्वेव सन्तमेन ततो बिदु
34— तत्सुकृत दुष्कृते विधूनुते। तस्यप्रिया ज्ञातय सकृतम्पयुजन्त्यश्रिया दुष्कृत्य — काणी उ0 1/4
35— तदालम्बित हस्ताना भवादुन्मज्जता सताम्। मज्जत पाप जातस्य नास्ति हस्ताचलम्बनम्। —या0 1/60
36— सदैव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। तदैद्धत बहुस्या प्रजायेपति छा 6 2 1 आत्मा वा इदमैक एवाग आसीत नान्यत् किचिन्न मिषत्। स ईज्ञत लोकान्नु सृजा इति। ऐ0ब्रा0 1—1—1। एको ह वै नारायण आसीत न ब्रह्मा नेशानो नेमे छावापृथिवी न नज्ञत्राणि नापो नाग्निन सोमो न सूर्य महोप0 1—1। शीश्च तै लक्ष्मी श्च पल्यो — पुरूणसूक्त— ऋ0 10 । ते0आ0 3/13।
37— क्रीडातूलिकया सस्मिन् कृपारूषितया स्वयम्। एको विश्वमिद चित्र विभु श्रीमानजीजनत् ।। या0 1/9
38— तद्वेद तहर्यव्याकृतमासीत् तनाम रूपाम्या व्याक्रियते वृ0 3—4—4
39— अनेन जीवेनात्मानानुप्रविश्य नामरूपेव्याकरपाणि—छा0 6—3—2
40— विश्वानि विश्वाधिक शक्ति रेको नामानि रूपाणि च निर्मिमाण या 4/16
41— योवा स्वा देवतामतियजये प्रस्वाये देवताये च्यवते न परा प्राप्नीति पापीयान्मबति।
42— अतियजेत निजा यदि देवतामुभयतश्च्यवते जुषते प्यघम्— या0 6/4
43— यस्य ब्रह्म च क्षत्र च उभौ भवत ओदन। मुत्युर्यस्योपसेचन क इत्था वेद यत्र स ।। कठ0 2/25
44— मृत्युपसिक्तैर्भुवनैरशेषेरनन्यद तैरपिहव्यकव्यै। अलव्धपूर्वाममजत्तदानी गोपाहृतै प्रीतिमशेष्णोप्ता।। — या0 6/9
45— अथवा जगदेतदोन ते तदुपघ्नन्नुपसेचन च मृत्यु या0 15/19
46— अग्निर्वे देवानामवर्मो विष्णु परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवता ए0 ब्रा0 1—1—1
47— प्रथमाचरमा च देवता त्वम्। याद0 15/21
48— स यथाशकुनि सुत्रेण प्रबद्ध छा0 6/82

49– विरस्यात्मसूत्रस्थै शकुनैरिव जन्तुभि – या0 16/117
50– स्वरश्मिनिष्पादितसूर्यमेदामर्चिर्मुखैरचितमव्यमागाम्।
निवृत्तिधर्मे नियतस्थितीना नैश्श्रेयसी पद्धतिराहुरैनाम्।। या0 18/119
51– तेऽर्चिषममिसम्मवन्ति – छा0 5/15/5
52– अथ यत्रैतस्माच्छरीरादुत्कामति अथ एतैरेन रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते– छा0 8/6/5
53– तधथा पुष्करपलाश आर्थो न श्लिष्यन्ते एवमेव विदिपाप कर्म न श्लिष्यन्ते – छा0 04/15/3
54– तद्यथेषकातूलमग्ना प्रोत प्रदूयेत एव हास्य सर्वे पाप्मान प्रदूयन्ते– छा0 5/24/3
55– निश्शैषयन्नयमुदेति मयूखमाली विद्यावता वृजिनराशिमिवान्तरात्मा–या0 19–47
56– आत्मान रथिनविद्धि शरीर रथमेवतु– कठ0 3/3
57– यथानियच्छत्यमिन्द्रियाश्वान् जीवाश्रये देहरथेनिबद्धान्– या0 23/38
58– पादो स्य विश्वाभूतानि – पुरूषसूक्त ऋ0 10
59– यादवाभ्युदय 23/39
60– स0सू0 1/59
61– वृह0
62– कि तत्प्रिय परमत प्रतिपादनीय पद्मासहायपदपद्म जुषाभवत्या।
पश्यामि यत्पुरूषमेवमपास्तपक राकाशशाकमिव राहुमुखाद्विमुक्तम्।। स0सू0 10/95
63– महाभारत
64– भा0 पु0 9/18
65– वीरो रस इवोत्साहान्नाहुषादभ्य जापत। ययातिर्नाम यनेन्द्रमर्घासनमधिष्ठितम्– या0 1/16
66– आसगरान्तमबमत्य महीपतीन्द्रान मून्ना निजेन परिहृत्य ययातिशायम्–या0 10/118
67– क्षिप्तावद्य क्षत्रियवृत्याबहुशास्य मग्न शापोदन्वति मान्य यदुवशम्– या0 10/119
68– तत ऐरावतो नाम वारणेन्द्रो विनिर्गत। दन्तेश्चतुर्भि श्वेतार्द्ररहरम्भगवतो द्युतिम।। भा0पु0 8–8–4
69– बभूवनहुषस्तस्मिन्नेरावत इवाम्बुधो।। या0 1/13
70– गिरयो हिमवद्वत्सा त्वानाधातून् स्वसानुषु सर्वे स्वमुख्यवत्सेन स्वेस्वेपात्रे पृथक पय।
सर्वकामदुधा पृथ्वी दुदुहु पृथुमाविताम् ।। भा0पु0– 4–18–25 26
71– तस्मेरूद्राय महते मन्त्रेणानेत्र दत्तवान्। हिमाचलो निजा कन्या पार्वती त्रिजगत्प्रसूम्। शि0पु0 10
72– श्वशुर भूतनाथस्य स्कन्दमातामह गिरिम्। प्रसूति सवरत्नाना पृथिवीधेतुतर्कणम्।। या0 22/116
73– सर्वापूर्वमिय येषामावीत् कृत्सना वसुन्धरा। प्रजापतिमुपादय नृपाणा जयशालिनामे इक्ष्वाकूणामिद तेषा राज्ञा वशे महात्मनाम्। महदुत्पन्नमाख्यान रामायणमितिश्रुतम्। वा0रा0 5–1 3
74– इच्छामात्राज्जगदपरथा सविधातु क्षमाणाम् । इच्वाकणा प्रकृतिमहतीमीदृशी प्रेक्ष्यवेलाम्।। ह0स0 1/8
75– काचव्रीशिशुपालमेका ददर्श स महाकपि। वृता हेममयीभिस्तु वेदिकामिस्समन्तत।। वा0रा0स0 14–37
76– द्रक्षस्येका जनकदुहितुस्सोम्यदुर्जातबन्धु। न्यस्ताकल्पा वचन विटथे शिशुपा सान्द्रशाखाम्।। ह0स0 2/8
77– मम सत्या प्रतिज्ञा सा वीर्यशुल्केति कौशिक। सीता प्राणैर्बहुमता देया रामाय से सुता।। वा0रा0बा0 67/23
78– काले तस्मिन् कथमपि मया वीर्यशुल्कैन लब्धम्।। ह0स0 2/9
79– वर्षाकीर्णामिव कमलिनी व्याहतार्थामिवोक्तिम्– ह0स0 2/14
80– दु खेन बुबुधे सीता हनुमाननल कृताम्। सस्कारेण यथाहीना बाचमर्थान्तर गतम।। वा0रा0सु0 15/39
81– प्रविवेशाश्रम वीरोलक्ष्मणेनाभि पूजित। त दृष्टवा शत्रुहन्तार मृहषीर्णा सुखावहम्।।
बभूर्व हृष्टा वेदेही मतीर परिषस्वजे।। वा0रा0 आरण्य0 30/39 40
82– अस्मत्पूर्वेस्सुरपतिहृत द्रष्टुकामेस्तुरग भित्वा क्षोणीमगणितबलैस्सागरो वर्धितात्मा। ह0स0 1/56
83– वा0 रा0 बाल0 40–67
84– मित्रभावेन सम्प्राप्त न त्यजेय कधवन। दोषो यद्यपि तस्य स्यात् सतामेतदगर्हितम्।। वा0रा0युद्ध0 18/3
85– तदेवमवसीदत्सु दयादेवेषु पात्यताम्। अनपहनुत दास्याना दोष निहवसाक्षिणी।। या0 16/45
86– मित्रभाव समुपागत जन न त्यजैयमिति नाथ मन्यसे। या0 17/89
87– आर्तोवा यदि ना दृप्त परेषा शरण गत। अरि प्राणान् परित्यज्य रक्षितव्य कृतात्मना।। वा0रा0यु0 18/28
88– वा0रा0बा0 22–10
89– वा0रा0 युद्ध0 18–25
90– वा0रा0 युद्ध0 18–34
91– अपासर्पद् द्वित्रिपद किचित्वरितविक्रम। वा0रा0अर0 30/23
92– ततस्तेम महातेजा वीर्ययुक्त कपीश्वर। वेगेनाभिहतो वाली निपपात महीतने।। वा0रा0कि0 16/36
93– इमा विरूपामसतीमतिमत्त महोदरीम्। राक्षसी पुरूषव्याघ्र विरूपयितुमर्हसि।। वा0रा0आ0 18/20
94– निरवधिगुणग्रामे रामे निरागसिवागसि स्फुरणपमुषितालोका लोका वदन्ति सदन्तिके।
वरतनुहति बालिद्रोह मनागपसर्पण परिमित गणे स्पष्टावद्ये मुधाकिमुदासते।। सु0नी0
95– वा0रा0 7/31 सर्ग
96– सतु बाहुसहस्रेण बलाद् गृहय दशाननम्। बबन्ध बलवान् राजा बलि नारायेणा यथा।। वा0रा0 7–32–64

97– तेषा विहरता तत्र शिजनी बद्धरावणाम्। कार्तवीर्यजलक्रीडा कथयन्ति स्म तापसा । या० 22/220
98– महाभारत द्रोण पर्व 145/6 8 9
99– महाभारत द्रोण पर्व 146/62–65
100– दिवाकरेऽनस्तमिते तिगाढ तमस्सृजस्तामसमोहनार्थम्।
प्रपन्नरक्षा प्रतिपन्नू दीक्ष सत्याभि सन्ध विदधे सखायाम्।। या० 23/43
101– महाभारत द्रोण पर्व 81/2
102– महाभारत भीष्म पर्व 59/91
103– निवर्तित वैरिजनोपमर्दात् न्यस्त रथे चक्रमुपाददान ।
नतप्रतिज्ञानुपरोधहेतों आत्मप्रतिज्ञामजहत्स्वतन्त्र ।। या० 23/40
104– महादेव सर्वयज्ञे महात्मा हुत्वात्मान देवदेव बभूव।। मा०भा० शान्ति 20/12
105– सकश्चन सर्वमेघयज्वा हविराज्माहवयमात्मनेव हुत्वा।
यत एव बभूव देव देव स किमस्माभिरदैवतैरनच्ये ।। या० 15/64
106– योऽन्यथासन्तथात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते। कि तेन न कृत पाप चौरेणात्मापहारिणा।। म०भा०अद्योग 42/64
107– आकुमारमनुभावमीदृश नाथ विश्वविदित तवक्षिपन्।
हन्त नूनमहिमाशुमण्डल तस्करस्तमसि गोप्तुमिच्छति।। या 17/108
108– आत्मचौर्य दुरिताकरज्यजा मा पहार्षुरसुरा पदानिव। या० 17/124
109– पापमना तमसि पातभितृणामात्मचौर्यमधिराजपदस्थम्।। या० 21/20
110– कृष्ण द्वैपापन व्यास विद्धि नारायण प्रभुम्। को हयन्य पुण्डरीकाक्षान्महाभारतकृद्भवेत।। शान्ति 356/11
111– वेदानध्यापयामास महाभारतपचमान्।। शान्ति 349/20
112– विभक्तसामान्यविशैषधर्मा प्रादुर्बभूवोपनिषत्प्रभोर्या।
स एव ता वयासमुनिस्समीवी पर्यग्रहीद्भारतवेदव तम।। या० 23/31
113– तर्कोऽप्रतिष्ठा श्रुतयो विभिन्ना नैको ऋषिर्यस्य मत प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्व निहित गुहाया महाजनो यैन गत स पन्था।। मा०भा० वन० 312/115
114– महाभारत– वनपर्व 63/7
115– स०सू० 10/68
116– तत समुत्क्षिप्य धरा स्वदष्टया महावराह स्फुटपद्मलोचन ।
रसातलादुत्पलपत्रसन्निभ समुत्थितो नील इवाचलो महान्।। वि०पु० 1–4–26
117– भग्नाचिर महति सन्तमसाम्बुराशौ दष्टाभिरामरूचिना दिवसागमेन।
उत्क्षिप्यते दनुजशोणित लोहितेन प्रायो वराहवपुषा विभुनेव भूमि ।। या० 19/50
118– ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसचरे। परस्यान्ते कृतात्मान प्रविशन्ति परपदम्।।
119– आधिकारिकपदेषु ते वय स्वेषु यावदधिकारमाहिता ।
प्रापितास्तव पर पद त्वया निर्विशेम निविशेमहि त्वयि।। या० 17/94
120– ब्र० सू० 3–3–31
121– ब्रह्मवैवर्त पु० 4–80–8
122– यस्माद्भाद्चतुर्थया तु गुरूपत्नीक्षति कृता। तस्मात्तस्मिन् दिन वत्स पापदृश्यों युगे युगे।। ब्र०वै० 4–81–54
123– इत्युक्त्वा चतुरो वेदान् पठित्वा मुनिपुगवात्। मासेन परयाभक्त्या दत्त्वा पुत्र मृत पुरा।। ब्र०वै० 4–102–25
124– इत्युक्त्वा चतुरो वेदान् पठित्वा मुनि पुगवात्। मासेन परया भक्त्या दत्त्वा पुत्र मृत पुरा।। ब्र०वै० 4–102–25
125– दिदेश सान्दीपनेये धनुर्वेदापेपदेशिने। स्वपदारूढतनयप्रत्यानयनदक्षिणाम्।। या० 10/106
126– नाह वेदेर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। शक्य एव विधों द्रष्टु दृष्टवानसि मा यथा।
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेव विधोऽर्जुन। ज्ञातु द्रष्टु च तत्त्वेन प्रवेष्टु च परन्तप।। गीता 11–53 54
127– ससारमरूकान्तारे परिश्रान्तस्य देहिन । त्वद्भक्त्यमृतवाहिन्यामादिष्टमवगाहनम्।। या 1/53
128– विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्म सस्थापनार्थाय।। गीता० 4/8
129– अवतार्य भुवो मारमवतारो ममामरा। अनादिनिधन धर्ममक्षत स्थापयिष्यति।। या० 1/94
130– य इह यामुपजीवति तत्तु स हि तया हितया भूविनाथवान् या० 6/3
131– जन्म कर्म च में दिव्यमेव यो वेत्ति तत्त्वत । त्यक्त्वा देह पुनर्जन्म नेति मामेति सोऽर्जुन।। गीता 4/9
132– जन्म कर्ममिरसो निबध्यते तान यस्तव न वेत्ति तत्वत ।
त्वत्कथामृत रस पिवन्ति ये ते भवेयुरपुनस्तनन्धया ।। या० 17/107
133– रसो प्यस्य पर दृष्ट्वा निवर्तत। गीता 2/59
134– असो परप्रेमपद स्वभावादापूर्यमाणो महता रसेन। आत्मेव दृष्टस्सहसा प्रजानामदर्शनेच्छामितरेषु दते।। या018/93
135– वाद प्रवदतामहम्– गीता 10/32
136– वीतरागकथावाद न्याय परिशुद्धि प्रथम आहिनक प्रत्यक्षाहयाय
137– प्रभु प्रवदता यो भत्स वादस्त्व मतो मम।। स०सू02/37
138– सर्वशास्त्रार्थसम्पन्न सर्वशिल्पप्रवर्तकम्। नाटयाख्य पचम वेद सेतिहस करोम्यहम्।
एव सकल्प्य भगवान् सर्ववेदाननुस्मरन्। नाटयवेद ततश्चक्रे चतुर्वेदागसम्भवस।। भ०ना० 1/15 16

139– स तदा मूर्त श्वास नाटयवेद या0 15/93
140– तद्भोगवृन्दे युगपन्मुकुन्दपूचारीविशेषेण समेक्षि नृत्यन्– या0 4/119
141– विचित्रमधिजधोरूकटिकर्मसकृत्कृतम्। यादवाभ्युदय टीका 4/119
142– तदुत्माग परिकल्प्य रग तरगनिष्पन्नमृदग नादम्।
प्रशस्यमानस्त्रिदशैरकार्षीदव्याहतामारमटीमनन्त ।। या0 4/120
143– सरम्भावेगबहुलैर्नानाचारीसमुत्थितै। नियुद्धकरणेश्चित्रैरूत्पन्नारभटी तत ।। ना0शा0 20/14
144– यहा यह ज्ञातव्य है कि आरभटी नृत्य आरभटी वृत्ति से भिन्न है
145– यादवाभ्युदय 8/37
146– यादवाभ्युदय 8/36
147– षड्ज मयुरोवदति या0टीका 8/36
148– स0सू0 8–49
149– पद्मिनी पद्म गन्धा चमधुगन्धा च चित्रिणी। शखिनी क्षारगन्धा च निम्बगन्धा च हस्तिनी।। रति रहस्य
150– मुग्धामध्याप्रगल्माभिर्विरूपिनीभिरनुगतो विवेकाभिमुख उपसर्वति– स0सू0 पृ0 710
151– उदययौवना मुग्धा लज्जाविजितमन्मथा। लज्जाविजितमन्मथा मध्यमोदित योवना।
स्मरमन्दीकृतव्रीडा प्रौढासम्पूर्ण योवना।। स0सू0 टीका
152– स0सू0 8–51
153– वृद्धा तु कुरूते ज्वरम् (रति रहस्य)
154– अध्ववलान्ततनुर्नव ज्वरवती नृत्त्श्लथाङ्गी तथा मासेकप्रसवा ददाति सुरते षण्मासगर्मा सुखम।
विख्याता विरहप्य सगमविधो कुधप्रसन्न ऋतु – स्नाता नूतनसगमे मधुपदे रागास्पद योषिताम्।। कामशास्त्र
155– स0सू0 8/50
156– यादवाभ्युदय 13/24
157– स्तम्भ स्वेदोऽथ रोमाच स्वरभेदोऽथ वेपथु। वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टो सात्विका मता ।। ना0शा0 7/94
158– ना0शा0 22/45
159– यादवाभ्युदय 10/62
160– यादवाभ्युदय 16/64
161– आकुचितपुटापागसगतार्थनिमोषिणी। मुहुर्व्यापृत तारा च दृष्टिराकेकरा स्मृता।। भाव प्रकाश
162– यादवाभ्युदय 13/9
163– यादवाभ्युदय 19/76
164– यादवाभ्युदय 2/96
165– अजवृषभमृगागनाकुलीरा झषवणिजौ च दिवाकरादितुगा। वृहज्जातक 1/13
166– मास शुक्रो बुध सूर्य सार्धमास महीसुत। गुरूरव्द तम सार्घ शनि सार्घाव्दकद्वयम्।।
तथा सपादद्विदिन राशौ तिष्ठति चन्द्रमा। ग्रहाणा राशिजो भोग स्वमुक्तो विचक्षणै।।
होडाचक्र 23/24 गृहराशिभोग

द्वितीय अध्याय

संकल्पसूर्योदय   एक परिचय

(क) प्रतीक शब्द की व्युत्पत्ति
(ख) प्रतीक नाटक शब्द की व्याख्या
(ग) प्रतीक नाटक और सामान्य नाटक
(घ) प्रतीक नाटक का सामाजिक महत्त्व
(ङ) राजनीतिक महत्त्व
(च) धार्मिक और सास्कृतिक महत्त्व
(छ) सकल्पसूर्योदय की पात्र–तालिका
(ज) कथावस्तु

संकल्पसूर्योदय : एक परिचय

सकल्पसूर्योदय एक प्रतीक नाटक है। प्रतीक नाटक में अर्मूत भावों को मूर्त रूप देकर पात्र रूप में उपस्थित किया जाता है। इसके पीछे यह भावना निहित है कि जिस प्रकार वाह्य जगत् में युद्धादि हुआ करते हैं उसी तरह हमारे अर्न्तजगत्, में भी युद्ध हुआ करता है। इन प्रतीक नाटकों में सात्विक भावों को एक पक्ष में तथा तामसिक भावों को दूसरे पक्ष में रखा जाता है। जिस प्रकार जगत् में राजा–मत्री, गुरू–शिष्य, मित्र–शत्रु, पति–पत्नी के सम्बन्ध पाये जाते हैं उसी प्रकार उनके सम्बधों की भी कल्पना की जाती है। सत् की असत् पर धर्म की अधर्म पर न्याय की अन्याय पर विजय आदि भारतीय मान्यताओं के आधार पर ही इसकी रचना की कई है।

(क) प्रतीक शब्द की व्युत्पति –

प्रतीक शब्द की व्युत्पति इस प्रकार की जा सकती है– प्रतीयते ज्ञायते वा इति प्रतीकम्। प्रति + इण् + कीकच् 'अलीकादयश्च' सूत्र से[1] । इस प्रकार जिससे जाना जाय अथवा जनावे वह प्रतीक कहलाता है। इसलिए प्रतीक शब्द अङ्0ग, अवयव, शरीर, मूर्ति–वाची सिद्ध होता है।

(ख) प्रतीक नाटक शब्द की व्याख्या :–

सकल्पसूर्योदय, प्रबोधचन्द्रोदय आदि नाटकों में अमूर्त भावों का मूर्तिकरण या मानवीकरण किया गया है। ये अमूर्त पात्र काम, क्रोध आदि भावनाओं के प्रतीक या द्योतक हैं। भौतिक जगत् में

मूर्त रूप में इनकी सत्ता उपलब्ध नहीं होती । अत इन नाटकों को प्रतीक नाटक कहा गया है। इन नाटकों में इस प्रकार कल्पित मूर्त पात्रों को रङ्0गमच पर लाया गया है, और उनके माध्यम से सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। इन नाटकों का सामान्य नाटाकों से अलग एक प्रधान वैशिष्ट्य यह है कि सामान्य नाटकों के पात्र भौतिक जगत् के स्त्री–पुरुष आदि अथवा जगत् के देवी–देवता आदि होते हैं। जबकि इन नाटकों के पात्र अमूर्त, ऐतिहासिक, एव पौराणिक, मानवीय भावनाए भी होती हैं। रसाभिव्यजना के हेतु ये भावनायें मानवपात्रों की भूमिका में प्रस्तुत की जाती हैं।

अब प्रश्न उठता है कि भावनाओं को रङ्0गमच पर लाने में इस रसाभिव्यजन के अतिरिक्त और कौन सा प्रयोजन हो सकता है– (1) मानव रूप में पात्रों का चित्रण करने से विषय–बोध में सहृदय को सुविधा होती है। (2) साथ ही दुरूह अमूर्तता के हट जाने से गूढ दार्शनिक तत्त्व बोध में एक विशेष चमत्कार आ जाता है। (3) अर्मूत के मूर्तिकरण में काव्य की एक नवीन विद्या का भी एक अद्भुत आकर्षण है।

मूर्तत्त्व की और नाटक रचना की यह अभिरूचि इन नाटकों को नाटक की अन्य विधाओं से पृथक निस्सन्देह एक अक्षुण्ण वैशिष्ट्य प्रदान करती है। फिर भी नाटक के रचना प्रकार में अन्य नाटकों से इसमें कोई और भेद नहीं आता । कदाचित् इसीलिए प्राचीन शास्त्रीय ग्रन्थों में इस प्रकार के नाटकों का भिन्न रूप में वर्गीकरण नहीं किया गया। न ही इनके लिए कोई अन्य शास्त्रीय पारिभाषिक नाम दिया गया है। इस कारण 'अमूर्त के मूर्तत्त्व' पर मूलत आधारित इस प्रकार की रचनाओं का मूर्तिवाचक प्रतीक शब्द के द्वारा नामकरण

किया जाना सर्वथा सत्य प्रतीत होता है। प0 बलदेव उपाध्याय ने भी इन नाटकों को प्रतीक नाटक की ही सज्ञा प्रदान की है[2] । अन्य अनेक विद्वान् भी इनको प्रतीक नाटक ही कहते हैं[3]।

(ग) प्रतीक नाटक और सामान्य नाटक–

सस्कृत वाड्0मय में प्रतीक नाटकों का अपना विशिष्ट महत्त्व है। वाड्0मय के अन्तर्गत श्रव्य काव्य की अपेक्षा दृश्य काव्य की लोकप्रियता स्वीकार की गई है। वस्तुत जनमानस के सबसे अधिक निकट प्रवेश करने वाली अगर कोई साहित्य–विद्या है तो वह है नाट्य विद्या। इसमें लोगों को प्रत्यक्ष रूप से रसोपलब्धि का अवसर मिलता है। दर्शकों में शीघ्र ही प्रतिक्रिया भी होती है। ऐसा काव्य के किसी और रूप के साथ सम्भव नहींहै। इतना ही क्यों साहित्य–इतिहास के प्रारम्भ में तो सम्पूर्ण वाड्0मय को ही नाटक माना गया । काव्य–सम्बन्ध ी अधिकाश चिन्तन–मनन नाटक को केन्द्र में रखकर किया गया है। आज भले ही उन मतों या सिद्धान्तों को सम्पूर्ण काव्य के विषय में माना जाय। किन्तु उनकी रचना के समय उनके आधार रूप में नाटक साहित्य ही उभरता है। हमारे वाड्0मय के आदि तत्व चिन्तक भरत मुनि ने अपने काव्य सम्बन्धी चिन्तन–मनन को नाटक तक ही सीमित रखा। अन्य साहित्य रूपों की चर्चा तक नहीं की। अब तक के उपलब्ध प्रमाणों से यही पता चलता है कि भरतमुनि ने नाट्य शास्त्र के अतिरिक्त कही भी कुछ नहीं लिखा। इससे स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में नाटक उस समय साहित्य का पर्याय बन गया[4] । नाटक कहने से सम्पूर्ण साहित्य का बोध होता था। इसीलिए केवल नाटक को केन्द्र में रखकर बनाए गये सिद्धान्तों को आज हम सम्पूर्ण साहित्य के अध्ययन

में अच्छी तरह लागू कर सकते हैं।

नाटक की इस महत्त्वपूर्ण भूमिका के सन्दर्भ में प्रतीक नाटक अपने कुछ मुख्य आवश्यकता को लेकर अवतरित हुए। उन्हें इस महत्त्वपूर्ण भूमिका का भली भाति ज्ञान था। वाङ्0मय के परिप्रेक्ष्य में वे अपने इस गौरव से परिचित थे। इसीलिए प्रतीक नाटकों के प्रणेताओं ने समवेत रूप से अपनी मर्यादा और अपनी गौरवमयी परम्परा सजीवता के साथ विकसित करने का सफल प्रयास किया। लगभग सभी प्रतीक नाटक किसी न किसी रूम में अपनी यही भूमिका अदा करते हैं।

यद्यपि इन प्रतीक नाटकों का वाह्यरूप साधारण नाटकों से भिन्न नहीं था फिर भी इनमें कथ्य का लम्बा अन्तराल अवश्यही देखने को मिलता है। सामान्य नाटक जहा अपने कथ्य में लौकिक जीवनानुभूतियों से प्रेरणा ग्रहण करते रहे हैं वहा प्रतीक नाटकों का विषय मनुष्य के तार्किक और दार्शनिक सिद्धान्तों से सम्बन्धित है। साधारण नाटक जहा मनुष्य की रागात्मक वृति का परितोष करके ही जाते हैं वहा प्रतीक नाटक मनुष्य की उच्च बौद्धिक तार्किक वृति को भी सन्तुष्ट करने में सफल होता है। दर्शको में राग, द्वेष, प्रेम, घृणा इत्यादि मनोभावों को उत्तेजित करके अलौकिक आनन्द में ही साधारण नाटकों की सफलता है। वे मनुष्य के मानसिक मनन–चिन्तन को प्रभावित नहीं कर सकते, वे बौद्धिक प्रतिभा को आन्दोलित नहीं कर पाते। लेकिन प्रतीक नाटक तत्व–चिन्तकों के मन पर भी खलबली मचा देता है। वह बड़े–बड़े तार्किकों और दार्शनिकों को पुनश्चिन्तन के लिए चुनौती देता है।

साधारण नाटकों की अपेक्षा प्रतीक नाटकों का महत्त्व इस दृष्टि से भी है कि साधारण नाटक जहा लौकिक चरित्रों द्वारा मानसिक भावों को जागृत करता है वहा प्रतीक नाटक सभी तरह के मानसिक भावों को पात्रों में रूपायित कर देता है। यह प्रतीक नाटकों की मनोवैज्ञानिक विशेषता है कि उसके पात्र मानसिक भावनाओं के प्रतीक बनकर अवतरित होते हैं। पात्रों का यह प्रतीकीकरण केवल मानसिक भावनाओं तक ही सीमित नहीं है बल्कि उसकी सीमा में शास्त्र, रोग, औषधि इत्यादि विविध विषय समाहित हो जाते हैं। इन सभी शास्त्रों, रोगों, औषधियों और भावनाओं के प्रतीकीकरण में प्रतीक नाटकों का सर्वाधिक महत्तव है। क्योंकि लौकिक चरित्रों को चित्रित करना तो आसान है किन्तु अमूर्त भावनाओं या शास्त्रों को एक सुस्पष्ट आकार देना कठिन कार्य है। और फिर ऐसे सूक्ष्म भावों को तो, जिनके स्वरूप का भी कोई स्थिर निर्णय नहीं हो सका हो, पात्र रूप में कल्पित कर देना बड़े मनोवैज्ञानिक सामर्थ्य की बात है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्रतीक नाटकों ने सस्कृत वाड्0मय में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। साहित्य उपदेश का साधन माना जाता है और उपदेश भी कैसा, जो मधुर और प्रिय है। आचार्य मम्मट ने कहा है– 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे'[5] तात्पर्य यह है कि साहित्य अपनी स्त्री के सुमधुर सिखावे की प्रकृति का होता है। आज साहित्य के प्रयोजन सम्बन्धी बहुत विवाद के पश्चात् भी हमें इसे स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है कि साहित्य मनुष्य को सदुपदेश देता है। प्रतीक नाटकों के प्रणयन में हमारी समझ से साहित्य सम्बन्धी यही प्रयोजन प्रेरक तत्व के रूप में रहा होगा। वस्तुत साधारण, नाटकों में अधिक सुविधा रहती है। साधारण नाटकों

में उपदेश जहा ध्वनित होकर रह जाता है वहा प्रतीक नाटकों में वह अभिधेय बनकर प्रकट हो गया है– 'लौकिक राजा मोह में पड़कर पथभ्रष्ट हो गया' इससे मोह के प्रति घृणा पैदा करने की अपेक्षा जीवराज अपने शत्रु मोहराज सेपरास्त हो गया और इस तरह पथभ्रष्ट हो गया, इससे मोहराज के प्रति घृणा पैदा करना अधिक स्वाभाविक सरल और स्पष्ट है। साधारण नाटकों में सभी मनोभावों की अभिव्यक्ति और उससे दर्शकों का ज्ञान सम्भव नहीं किन्तु प्रतीक नाटकों में सभी मनोभावों को दर्शक पर्दे पर प्रत्यक्ष चलते–फिरते देख लेते हैं जिससे दर्शकों को एक विचित्र औत्सुक्य बना रहता है साथ ही उनका प्रभाव भी अधिक स्थायी होता है।

प्रतीक नाटकों की कथावस्तु अपने आकार–प्रकार में कोई बहुत लम्बी–चौड़ी नहीं होती उसका महत्त्व अपने अभीष्ट लक्ष्य की पूर्ति में होता है। उनमें किसी विशेष दार्शनिक सिद्धान्तों को लेकर उनकी मनोरजनीय विवेचना की जाती है। इसीलिए प्रतीक नाटकों में कथा का रूप बहुत सुदृढ़ नहीं होता किन्तु महत्त्वपूर्ण तो होता ही है। यही कारण है कि प्रतीक नाटकों की कथा योजना में नाटककार को काफी सतर्कता बरतनी पड़ती है। कथातन्तुओं को सयोजित और सघटित करना पड़ता है। यह सब अमूर्त कथानक के कारण ही कठिन होता है। प्रतीक नाटक अगर इन कथा तन्तुओं को सफलता के साथ सघटित कर गया तब तो निश्चय ही उसका महत्त्व है अन्यथा वह साधारण नाटकों की तुलना में हेय और तुच्छ ही बना रहेगा।

ठीक यही कठिनाई प्रतीक नाटकों की रसाभिव्यक्ति को लेकर है। रस काव्य की आत्मा माना गया है। इसलिए सभी काव्य कृतियों में रसों की स्थिति अनिवार्य रूप से स्वीकार की गई है।

नाटकों में भी रस को सर्वातिशायी स्थान प्राप्त है। रसाभिव्यक्ति का यह सामान्य नियम है कि वह काव्य के भावों से पाठकों का साधारणीकरण होने पर ही पाठकों में रसाभिव्यक्ति हो सकती है। यह साधारणीकरण दर्शकों और नाटक के अभिनेताओं की स्थिति साम्य के आधार पर ही सम्भव है। इस साधारणीकरण के लिए आवश्यक है कि दर्शक अभिनेता में अपना प्रतिबिम्ब देखें, वह उसकी भावनाओं से मेल खाय और वह उसकी मनोग्रन्थियों से परिचित हो। जब तक ऐसा नहीं होता यानि कि दर्शक और पाठक (सहृदय) में ऐक्यस्थापना नहीं होता तब तक पूर्णत रसाभिव्यक्ति नहीं हो सकती। साधारण नाटकों में यह रसाभिव्यक्ति सुविधा से चतुर नाटककारों द्वारा कराई जा सकती है क्योंकि उसमें दर्शकों की तरह के ही मासल चरित्रों को लिया जाता है। उन चरित्रों का वैक्तिक गठन भी दर्शकों की ही तरह का होता है किन्तु प्रतीक नाटक में यह सम्भव नहीं है। उसमें मानसिक भावनाओं, प्रवृत्तियों और आन्तरिक इच्छाओं जैसे अमूर्त पात्रों की सर्जना करनी पड़ती है। इसीलिए प्रतीक नाटकों के चरित्र साधारण नाटकों के चरित्रों की तुलना में अपने चारित्रिक वैशिष्ट्य की दृष्टि से कम ही ठहर पाते हैं। उनमें साधारण नाटकों के चरित्रों का स्वाभाविक विकास नही लक्षित होता है। वे नाटककार के अभीष्ट दार्शनिक सिद्धान्तों की कठपुतली बन जाते हैं। नाटककार उन्हें जहा चाहता है मनमाने तौर पर मोड़ देता है। इस प्रकार चूकि प्रतीक नाटक के चरित्र अमूर्त और भावनात्मक होते हैं इसीलिए उनके द्वारा दर्शकों में सार्वत्रिक रसाभिव्यक्ति नहीं हो पाती ।

लेकिन इसका मतलब यह कदापि नहीं है कि प्रतीक नाटकों में रस की अभिव्यक्ति कराई ही नहीं जा सकती । हा यह कार्य

दुरूह अवश्य है पर असम्भव नहीं। अगर नाटककार की कल्पना शक्ति और मनोवैज्ञानिक प्रतिभा जागरूक है तो वह अपने अमूर्त पात्र विषयक वर्णनों में भी सजीवता ला सकता है। इस प्रकार जब उसके चरित्र जीवन्त और सक्रिय चित्रित किये जायेगें तो उन्हें दार्शनिक मतवादों की कठपुतली समझने का भ्रम नहीं होगा। उनमें फिर वहीं मासल सौन्दर्य अभिव्यजित होने लगेगा जो साधारण नाटकों के चरित्रों में व्यजित होता है। अब यह नाटककार की प्रतिभा पर ही आधारित है कि वह किस सीमा तक रसोपलब्धि करा सकता है। वह जितना ही सफल रसाभिव्यक्ति कर सकेगा, उतना ही सफल नाटककार माना जाएगा। इस दृष्टि से प्रतीक नाटकों का कार्य निश्चित रूप से साधारण नाटकों के रचयिताओं की अपेक्षा विशेष महत्तव रखता है।

(घ) <u>सामाजिक महत्तव :-</u>

प्रतीक नाटकों कें महत्त्व की बात तब तक पूरी नहीं हो पाती जब तक कि प्रतीक नाटकों की सामाजिक उपादेयता पर विचार न कर लिया जाय। इन नाटकों ने जनमानस पर कैसा प्रभाव छोड़ा है इस दृष्टि से विचार करना अपेक्षित है। साहित्य समाज की अभिव्यक्ति होता है। मनुष्य के राग-द्वेष ओर उसके मनोजगत् का उद्घाटन साहित्य में होता है। इस लिए साहित्य का सम्बन्ध मानव जीवन का पथ प्रदर्शक माना जाता हैं। इसलिए प्रतीक नाटकों से भी साहित्य की इसी अभिव्यक्ति की अपेक्षा की जानी चाहिए। इस सन्दर्भ में हमें यह देखना होगा कि प्रतीक नाटक मनुष्य के सामाजिक धरातल को किस सीमा तक प्रभावित या अप्रभावित करते हैं।

प्रतीक नाटक की इस भूमिका में यह तो मानना ही होगा कि इन नाटकों ने अपने ढग से समाज के लोगों में जीवन की समरसता जगाने की जगह उनके चिन्तन पक्ष को कहीं अधिक प्रभावित किया है। जीवन की समरसता जगाना साधारण नाटकों का काम है और इसके चिन्तन पक्ष को प्रभावित करना दार्शनिक प्रतीक नाटकों का कार्य है। ये दोनों कार्य अपनी-अपनी जगह बराबर महत्तव के हैं। समाज का राग-द्वेष जितना बड़ा सत्य है उतना ही बड़ा सत्य उसका चिन्तन मनन भी है। हमें यह कहने में जरा भी हिचक नहीं है कि इन प्रतीक नाटकों में अपने समसामयिक समाज को दर्शन के क्षेत्र में बार-बार सोचने पर मजबूर किया होगा।

प्रतीक नाटकों के सामाजिक महत्तव का एक दूसरा पहलू भी है जो प्रतीक नाटकों के उद्देश्य से सम्बन्धित है। प्राय सभी नाटकों में किसी न किसी रूप में दर्शन के प्रश्न उठायें गए हैं। अपने ढग से उन्हें उत्तरित करने का प्रयास भी किया गया है। भले ही यह प्रयास एक प्रबुद्ध दर्शनवेत्ता के प्रयास की श्रेणी में नहीं आए किन्तु इससे सामान्य जनमानस दर्शन के क्लिष्ट विषयों में रुचि लेना तो सीखता ही है, दर्शन से अपना सम्बन्ध तो जोड़ता ही है और इस प्रकार तत्त्व चिन्तन की ओर अग्रसर तो हाता ही है। प्रतीक नाटकों की यही देन कम महत्तव पूर्ण नहीं है । इसी तत्त्व चिन्तन के आधार पर समाज अपने में गतिशीलता और जीवन्तता का अनुभव कर सकता है।

प्रतीक नाटकों के उद्देश्य का एक और पक्ष भी है और वह है अपवर्ग की प्राप्ति। लगभग सभी नाटकों में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में अपवर्ग की प्राप्ति का लक्ष्य रखा गया है। वस्तुत भारतीय तत्वचिन्तन का अधिकाश भाग अपवर्गान्वेषण में लगाया गया है।

मनुष्य के चार श्रेय हमारे प्राचीनों ने बताये हैं अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष। इनमें सर्वाधिक श्रेष्ठत्व मोक्ष को ही प्राप्त है वही इन सभी श्रयों का लक्ष्यत्व प्राप्त करता है इसीलिए मोक्ष को ही मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य माना गया है।

काव्य या साहित्य में भी मोक्ष को लक्ष्य के रूप में ग्रहण किया गया है। यद्यपि काव्य के उद्देश्य के रूप में केवल अर्थ, धर्म, काम को ही प्रतिष्ठा मिली है किन्तु मोक्ष सर्वथा उपेक्षित नहीं रहा है और फिर इन प्रतीक नाटकों के साथ तो मोक्ष की सगति इसलिए भी बैठ जाती है क्योंकि इनका विषय तत्वचिन्तन का विषय है। सभी प्रतीक नाटकों में किसी न किसी रूप में मोक्ष को ही अन्तिम उद्देश्य के रूप में स्वीकार किया गया है। उदाहरण के लिए सकल्प सूयोर्दय तो अपवर्ग की प्रतिष्ठा में ही सर्वाधिक प्रवृत्त हुआ है। जिन नाटकों में किसी भक्ति की प्रतिष्ठा है उनमें भी अप्रत्यक्ष रूप से इसी मोक्ष की बात स्वीकार की गई है। इन सभी नाटकों की अन्तिम अवस्था में नायक ब्रह्मा का साक्षात्कार करता है, अपनी चित्तवृतियों से मुक्त होता है, अपनी कुप्रवृत्तियों से पिण्ड छुड़ाता है और इस प्रकार वह ऐसी अवस्था को प्राप्त होता है जो मोक्ष की ओर अग्रसर करता है। इस प्रकार जहा अन्य साधारण नाटकों में अर्थ, धर्म, काम को लक्ष्य की सिद्धि रूप में स्वीकृति मिली है वहा प्रतीक नाटकों में मोक्ष को उद्देश्य के रूप में ग्रहण करना एक सशक्त और महत्त्वपूर्ण कदम है।

(ड) राजनीतिक महत्त्व –

इन प्रतीक नाटकों में काव्य और दर्शन का आधिपत्य होते हुए भी इनमें अपनी प्रभान्विति में तत्कालीन जनमानस की

राजनीतिक चेतना स्पष्टता के साथ लक्षित की जा सकती है। राजा और प्रजा का सम्बन्ध, राजा-मत्री का सम्बन्ध और राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था इन सब की समवेत अभिव्यक्ति हुई है। लगभग अधिकाश नाटककार किसी न किसी राजाश्रय में जीवन यापन करते रहे हैं। राजदरबारी कवि होने के नाते उन्हें राज्य की अच्छी बुरी सभी बातों का ज्ञान तो रहा ही होगा। वे प्रशासनिक कार्यों में भले ही खुलकर सक्रिय न हुए हों किन्तु प्रशासन में व्यक्तित्व का प्रभाव तो रहा ही होगा। यही कारण है कि दर्शन के विषय पर भी लिखने के लिए इन सभी दरबारी राज्याश्रित नाटककारों ने नाटक विद्या का आश्रय ग्रहण किया जिससे कि स्पष्टता के साथ राजाओं के जीवन वृत को व्यजित किया जा सके। और यही कारण है कि प्राय सभी नाटकों में इतिवृति के चौखटे के रूप में राजाओं का उल्लेख है। उनके व्यक्तिगत ईर्ष्या-द्वेष का उल्लेख है, उनके अत्याचारों का उल्लेख है उनकी धार्मिक सहिष्णुता और असहिष्णुता का उल्लेख है, उनकी घरेलू अव्यवस्थाओं का उल्लेख है और उनके सघर्षो और विजय-पराजयों का उल्लेख है।

इन नाटककारों ने अपने नाटकों द्वारा तत्कालीन राजनीति को स्वस्थ और सबर्द्धनशील बनाने में अभूतपूर्व योगदान दिया होगा। इन नाटकों को पढ़कर या देखकर राजाओं में नैतिक मूल्यों के प्रति गहरी निष्ठा उत्पन्न हो सकती है। राज्य की अव्यवस्था को सुधारने का एक यह भी रास्ता है सीधे-सीधे न कहकर उसे कथा के आवरण में व्यक्त कर देना। कथा के आवरण में कही गई बात अधिक शक्तिशाली और स्थायी होती है। वस्तुत इस दृष्टि से इन नाटकों का महत्तव बहुत अधिक है। चाहे मोहराजपराजय हो या धर्मविजयम्, प्रबोधचन्द्रोदय हो या जीवानन्दनम्-इन सभी नाटकों में आए हुए सघर्ष

तत्कालिन राजाओं के व्यक्तित्व के सघर्ष ही है। यह अति प्राचीन तथ्य है कि पुराने समय में राजाओं में आए दिन शक्ति और प्रभुसत्ता के लिए सघर्ष होते रहते थे। नाटककारों ने भी इसी सघर्ष को अपना आधार बनाया, क्योंकि उनका रहना-सहना, उठना-बैठना राजाओं के इस सघर्ष पूर्ण वातावरण में ही होता है।

(च) धार्मिक और सांस्कृतिक महत्तव –

प्रतीक नाटकों के धार्मिक और सास्कृतिक महत्त्व के सन्दर्भो का उल्लेख भी अपेक्षित है। धार्मिक दृष्टि से तो इन नाटकों का महत्त्व सर्वविदित है। इन नाटकों द्वारा तत्तकालीन जनमानस की धार्मिक प्रवृत्तियों को उभाड़ा गया है। वस्तुत प्राचीन काल से ही धर्म हमारे ढाचे का मेरुदण्ड माना जाता रहा है। धर्म ही वह केन्द्रीय सूत्र है जो हमारे समाज को सन्तुलित और समन्वित करता है। अराजकता और उच्छृड्0खलता से मुक्ति देता है। इसके अभाव में सामाजिक विसड्0गतिया उभरती हैं। और मनुष्य का दैनन्दिन जीवन खतरनाक बन जाता है। आज हम जिस सक्रमण की स्थिति से गुजर रहे हैं जिस विभिन्नता ओर शैथिल्य का मुकाबला कर रहे हैं वह एक खतरनाक स्थिति ही है। आज आदमी-आदमी का दुश्मन बन गया है। भाई-भाई को कुछ नहीं समझता, पति-पत्नी को कुछ नहीं समझता और बेटा बाप का विरोध करता है। भ्रष्टाचार और सामाजिक अत्याचार बढ़ते जा रहे हैं ऐसी सकटपूर्ण घड़ी आखिर आई क्यों है? इसका एक मात्र उत्तर है धर्म के प्रति श्रद्धा का न होना। इस धार्मिक उदासीनता के कारण वह सूत्र ही हमारे हाथ से निकल गया है जो कि विभिन्नता में एकता लाने का प्रयास करता है।

कवि या साहित्यकार अपनी प्रज्ञा द्वारा इन तथ्यों का ग्रहण करके नये सिरे से लोगों में धार्मिकता के प्रति आस्था जगाता है, वह धर्म की युगानुरूप व्याख्या करता है और उसमे सशोधन-परिवर्द्धन भी करता है। इस प्रकार साहित्यकार या कवि की निश्चित धार्मिक भूमिका होती है।

लगभग सभी प्रतीक नाटकों में अपने-अपने ढग से यह भूमिका निभाए जाने का प्रयास मिलता है। इनमें से कुछ तो सर्वाधिक रूप में धार्मिकता का महत्त्व देकर लिखे गये हैं। उदाहरण के लिए धर्मविजयम् पुरजनचरितम् आदि के नाम लिए जा सकते हैं। धर्मविजयम् में धर्म की प्रधानता मानकर सारी बातें कही गयी हैं। धर्म में आने वाली बाधाओं का उल्लेख है और उनके समाधान का उल्लेख है और अन्तत धर्म की विजय का उल्लेख है। दूसरे शब्दों में धर्म विजय का उद्देश्य ही धर्म को प्रतिष्ठित करना है। नाटक विद्या को तो साधनरूप में ही नाटककार ने अपनाया है। इसीलिए नाटक में नाट्यकला का अभाव मिल सकता है किन्तु धर्म की प्रतिष्ठा के प्रयास का अभाव नहीं है। इसके अतिरिक्त 'पुरजनचरितम' 'जीवानन्दनम्' आदि नाटकों में भी विभिन्न भक्ति सिद्धान्तों को उभाड़ा गया है। जीवानन्दनम् में शिवभक्ति का प्रतिपादन है तो पुरजनचरितम् में विष्णु भक्ति का। धर्म के इतिहास में इन विभिन्न भक्ति मार्ग इश्वरोपासना के विभिन्न मार्ग निर्दिष्ट करते हैं जिनसे होकर भक्त भगवान् की शरण में जाता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि इन प्रतीक नाटककारों ने न केवल साहित्यिक गतिविधियों का प्रतिनिधित्व किया है वरन् अपने समय के धार्मिक गतिविधियों का भी प्रतिनिधित्व करते दीखते हैं। वे

अपनी प्रज्ञाशक्ति द्वारा धार्मिक उत्थान को नियोजित करने में सक्षम दीखते हैं। यहा तक कि वे कला के प्रति ईमानदारी नहीं बरत पाते किन्तु अपनी धार्मिक निष्ठा के प्रति बड़े ईमानदार लगते हैं।

दार्शनिक दृष्टि से इन नाटकों पर विचार करने पर ऐसा लगता है कि अब तक की कही गई सारी बातें गौण हैं और यही नाटक का प्रधान केन्द्र बिन्दु है। वस्तुत इन नाटकों में अगर किसी वर्ण्यविषय की प्रधानता है तो वह है दार्शनिक विवेचन। दार्शनिक विवेचन कहने का यह मतलब नहीं है कि इन नाटकों में दार्शनिक दृष्टि कोण से भारतीय सस्कृति का विश्लेषण किया गया। इसका मतलब सिर्फ यही है कि इन नाटकों में भारतीय सस्कृति के निर्माणात्मक तत्त्व अभिव्यजित है। सस्कृति के वे मूलभूत तत्त्व जिनसे किसी सस्कृति का निर्माण होता है प्राकृतिक प्रभावों और मानव की सहजात प्रवृत्तियों से ही उत्पन्न होते हैं। मनुष्य की आस्था, उसका विश्वास, आशा-निराशा, उत्थान-पतन इन सबके समवेत सघटन से ही किसी जातीय सास्कृतिक इतिहास का प्रतिफलन होता है।

मनुष्य स्वभाव से ही जिज्ञासु होता है। जब पहले-पहल इस धरती पर मनुष्य आया तो उसका सम्पर्क सबसे पहले अपने चारों तरफ के वातावरण से हुआ। इस वातावरण में अनेकानेक न जाने कितनी तरह की चीजें और विविधतायें विद्यमान थीं। एक तरफ उसने आकाश में अग्नि सदृश सूर्य को देखा, शीतल मनोहारी चन्द्रमा को देखा, अपनी लघुता में खिल-खिलाते तारों को देखा तो दूसरी ओर उसने बनाप्रान्तों की हरियाली को देखा, निर्द्वन्द्व भाव से विचरण करने वाले जानवरों को देखा, रग-विरगे पुष्प देखे और जी भरकर देखी स्फटिक शिलाए। निश्चित था कि इन विविधताओं के प्रति वह अपनी

प्रतिक्रियायें व्यक्त करता, उसने यही किया भी। और यही प्रतिक्रियाओं का ढग मानव जीवन का इतिहास बन गया। वस्तुत मनुष्य प्रारम्भ से आज तक इन प्राकृतिक विविधताओं के प्रति अपनी प्रतिक्रियायें ही व्यक्त करता है। हा प्रतिक्रियायें व्यक्त करने के प्रकार में भिन्नता होती है और यही भिन्नता मनुष्य के सास्कृतिक और बौद्धिक स्तरों का परिचय देती है। प्रारम्भ में मनुष्य कुछ और ही प्रतिक्रिया व्यक्त करता था और आज दूसरे ही प्रकार से व्यक्त करता है।

प्रारम्भ में मनुष्य ने केवल प्रकृति का रमणीय स्वरूप ही नहीं देखा उसने प्रकृति के भयकर रूप के भी दर्शन किए। उसने सामुद्रिक तुफानों को देखा, जगलों की धधकती हुई दावाग्नि को देखा, भीषण जलप्रपातों को देखा, अतिवृष्टि और अनावृष्टि के कष्टों को देखा और खतरनाक रोग व्यधियों को देखा। एक ओर जहा उसने प्राकृतिक रमणीयता से अपनी भाव-विह्वलता का सम्बन्ध जोड़ा तो दूसरी ओर प्रकृति की प्रचण्डता से भय भी अनुभव किया। इसीलिए उसने समस्त प्राकृतिक प्रचण्डताओं को देवी देवताओं के रूप में स्थापित कर उनको खुश करने करने का प्रयास किया। इन स्थापित देवी-देवताओं की प्रार्थनाए और आराधनाए होने लगी। समस्त वैदिक साहित्य इसी दैवी प्रार्थना पत्र के रूप में लिखा गया। समस्त वैदिक साहित्य आज अपने जिस रूप में उपलब्ध है उसे एक वृहद् स्तुति ग्रन्थ की ही सज्ञा प्रदान की जा सकती है। कहीं उसमें वर्षा के देव इन्द्र की स्तुति है, कही देव अग्नि की स्तुति कहीं ताप के देव सूर्य की स्तुति है तो कही प्रभात की देवी उषा की।

वस्तुत साहित्य मानव जीवन की सास्कृतिक विरासत होता है । वह जातियों के उत्थान-पतन की यथार्थ कथा कहता है। इस

स्थापना को साथ रखकर प्राय सभी प्रतीक नाटकों को अगर देखा जाय तो उनमें तत्तकालीन सास्कृतिक चेतना ही सर्वाधिक रूप में वर्णित मिलेगी। चाहे वह 'प्रवोधचन्द्रोदय' हो या 'मोहराजपराजय', धर्मविजय हो या यतिराजविजय, जीवानन्दनम् हो या सकल्प सूर्योदय सभी में दार्शनिक तत्व चिन्तन की ही प्रधानता है। यह दार्शनिक चिन्तन तत्कालीन सस्कृति का अग है। 'प्रबोधचन्द्रोदय' में अद्वैत दर्शन का प्रतिपादन किया गया है तो सकल्पसूर्योदय में विशिष्टाद्वैत की प्रतीष्ठा की गई है। पुरजनचरितम् में वैष्णव दर्शन का दिग्दर्शन कराया गया है तो विद्यापरिणयनम् और जीवानन्दनम् में शैवदर्शन वर्णित है।

तात्पर्य यह है कि इन सभी नाटकों में उस समय के बौद्धिक एव दार्शनिक चिन्तन का निष्कर्ष भरा हुआ है। इसलिए दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि इन सब नाटककारों ने अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार भारतीय सस्कृति प्रचारित और प्रसारित करने का कार्य सम्पादित किया है। तत्कालीन जनमानस में लोगों ने सास्कृतिक चेतना उत्पन्न करने का यह जो प्रयास किया है निश्चय ही वह अभूतपूर्व महत्त्व का है। दार्शनिक अवबोध की क्षमता सबमें होती है किन्तु दर्शनशास्त्र की विचारात्मक जटिलता और तार्किक नीरसता के कारण दार्शनिक अभिरूचि सर्वसाधारण को नहीं रह जाती । इन नाटकों को इस बात का असाधारण श्रेय है कि उन दुरूह दार्शनिक तत्त्वों को ये सर्वजन सुलभ बनातें हैं। तात्विक चिन्तन रूपी कटु किन्तु गुणकारी औषध को मधु या दुग्धरूपी ये नाटक सर्वथा ग्राह्य बना देते हैं।

इसी पृष्ठभूमि में वेदान्तदेशिक द्वारा लिखित 'सकल्पसूर्योदय' नाटक एक प्रमुख प्रतीक नाटक हैं। इसमें कवि ने अपनी वेदान्त विहारिणी बुद्धि से नाटक पद्धति को परिष्कृत करके विद्वानों का मत

स्थापित किया है[6] । इसमें शरीर धारी सद्सत्प्रकारक गुण अपने अधिदेवताओं के साथ पात्र रूप में उपस्थित हुए हैं[7] । 'सकल्पसूर्योदय' में विवेक, सुमति, व्यवसाय इत्यादि तथा मोह, दुर्मति, लोभ आदि पात्र के रूप में रखे गये हैं। इसके सात्विक और तामसिक दो पक्ष हैं। विवेक आदि सात्विक पात्र हैं। और दूसरी ओर मोह आदि तामस पात्र हैं। इस नाटक का नायक विवेक है। पुरूष को इस सासारिक बन्धनों से मुक्ति दिलाना इसका मुख्य प्रयोजन है। विवेक अपने सहायकों के साथ पुरूष को सासारिक विषयों से विमुख करके समाधि में नियुक्त करने का प्रयास करता है। मोह तथा उसके सहायक पुरूष में सासारिक सुखों के प्रति राग उत्पन्न करके उसे इस लोक में ही अनुरक्त रखना चाहता है। अन्त में विवेक परिवार सहित मोह को पराजित करके पुरूष को परब्रह्म की समाधि में स्थापित करता है। इससे प्रसन्न भगवत् कृपा द्वारा उत्पादित भगवत् सकल्प के द्वारा ससार से छूटकर पुरूष परब्रह्मानुभव रूप मोक्ष को प्राप्त करता है।

(छ) सकल्पसूर्योदय की पात्र–तालिका

सामान्य पात्र–

1 सूत्रधार

2 नटी

3 चेटि

4 दौवारिक

सत् पक्ष के पात्र–

1	विवेक	–	कथानायक
2	सुमति	–	कथानायिका
3	व्यवसाय	–	सेनापति

4	तर्क	–	सारथि
5	सस्कार	–	शिल्पी
6	दृष्टप्रत्यय	–	दूत
7	सकल्प	–	भवद्दास
8	पुरुष	–	नि श्रेयसाधिकारी
9	बुद्धि	–	पुरुष पत्नी
10	विष्णुभक्ति	–	भगवद्दासी
11	श्रद्धा		
12	विचारणा	–	सुमति की सखिया
13	गुरु (रामानुजाचार्य)	–	सिद्धान्त
14	शिष्य (वेदान्तदेशिक)	–	वाद
15	नारद		
16	तुम्बरु	–	देवर्षि
17	मैत्री		
18	करुणा	–	सुमति की सखिया
19	मुदिता		
20	उपेक्षा		
21	जुगुप्सा		
22	विरक्ति		
23	तितिक्षा	–	सुमति–परिजन
24	शान्ति		
25	शम		
26	दम	–	मन्त्रीगण
27	स्वाध्याय		

क्र.	पात्र		परिचय
28	तोष		
29	श्री पाचरात्र	–	वादविषय
30	दिव्य वैतालिक	–	वन्दना करने वाले
31	अनुभव	–	सस्कार का पिता
32	सहदृष्टि		
33	सदृशदृष्टि	–	सस्कार के दास
34	तार्क्ष्य	–	सकल्प प्रापक
35	अर्चिरादि	–	आतिवाहिका
36	श्वेतदीप	–	राजधानी

<u>असत् पक्ष के पात्र</u>–

क्र.	पात्र		परिचय
1	महामोह	–	प्रतिनायक
2	दुर्मति	–	प्रतिनायिका
3	काम		
4	क्रोध	–	सेनापति
5	रति	–	काम की पत्नी
6	वसन्त	–	कामसखा
7	राग		
8	द्वैष	–	मत्री गण
9	लोभ		
10	तृष्णा	–	लोभ पत्नी
11	दम्भ		
12	दर्प	–	मोह परिजन
13	कुहना	–	दम्भ पत्नी
14	असूया	–	दर्प पत्नी

15	स्तम्भ	–	कचुकी
16	सवृतिसत्य	–	दूत
17	अभिनिवेश	–	कोशाधिकारी
18	दुर्वासना	–	तत्पत्नी
19	साख्य		
20	योगादि	–	मोह पक्षी
21	विघ्न	–	चारण
22	कलि	–	योध
23	ऋतुस्नातनादि	–	कामपरिवार
24	शृगार	–	काम क्रोध
25	मान		
26	मत्सर	–	मोह के मत्री गण
27	भ्रम	–	सखा
28	माया	–	राजधानी

(ज) कथावस्तु

सकल्पसूर्योदय नाटक में दस अक है। जिसमें प्रथम अक का नाम 'स्वपक्षप्रकाश' है। इसमें आत्मा को वैषयिक सुख से कितना भटकना पड़ता है इसका प्रतिपादन किया गया है। प्रारम्भ में ही विष्कम्भक में महामोह के अनुयायी काम, रति तथा वसन्त का वार्तालाप होता है। शरीररज राग, द्वेष इत्यादि महामोहोपकारी तथा विवेक और सुमति के वार्तालाप द्वारा नित्यनिर्मलानन्द स्वरूप पुरूष का अनादिसिद्धकर्मरूपा अविद्या के द्वारा ससार में बधना, उसको मुक्त करने वाले लक्ष्मी पति विष्णु ही परतत्व हैं, उनसे भिन्न सभी अवर तत्त्व हैं, भगवान् का सकल्प ही पुरूष को ससार से मुक्त करने में समर्थ है। भगवान् की भक्ति ही उन्हें प्रसन्न करने का उत्तम साधन है। सभी पुरूषार्थो को प्रदान करने में एक मात्र भगवान् ही सक्षम है। आत्मा का नैसर्गिक स्वभाव यह है कि ब्रह्म से एकाकार स्थापित किया जाय, इत्यादि विषयों का समावेश इस प्रथम अक में किया गया है।

द्वितीय अक का नाम 'परपक्षप्रतिक्षेप' रखा गया है। इसमें सुमति की सखी श्रद्धा और विचारणा द्वारा पुरूष को ठगने के लिए महामोह के द्वारा किये गये प्रयत्नों का वर्णन किया गया है। इसके अनन्तर गुरू (रामानुज) और शिष्य (वेदान्तदेशिक) आते हैं। विवेक तथा व्यवसाय के सामने गुरू के अनुग्रह से शिष्य साख्य, योग, न्याय, जैन, बौद्ध, पाशुपत, मीमासक, शाकर, भास्कर आदि मतों का सक्षेप में निरास करता है। इसी के साथ पाचरात्र के प्रमाण्य का समर्थन करता है। गुरू शिष्य को जीवन भर वेदान्त शास्त्र के उपदेश के लिए आज्ञा देते हैं।

तृतीय अक का नाम 'मुत्तयुपायारम्भ' है। अक के

प्रारम्भ में विष्कम्भक का प्रयोग किया गया है। विवेक के द्वारा मुक्ति के उपाय का निरूपण करने के लिए पहले राग, द्वेष आदि का प्रवेश कराया गया है। इसमें विवेक के द्वारा निषिद्धाचारणों का परित्याग कर देने वाले कर्मनिष्ठ प्राणियों का त्रिवर्गाभिलाष को प्रवृत्ति धर्म में सलग्न होना तथा त्रिवर्ग से विमुखता उत्पन्न करने वाली विरक्ति तथा विष्णु भक्ति का रागद्वेष बलात् प्राय प्रवृत्ति निष्फलत्व दिया गया है। प्राचीन समय से एकत्रित पुण्य समूह की महिमा से प्रपन्न पुरूष ब्रह्म में निरवधि प्रेमानुध्यानरूपा समाधि करना चाहता है। इसमें आलम्बनभूत सकल कल्याण गुणाकर भगवत् स्वरूप में आनन्दातिशय के कारण तदतिरिक्त विषयों से विरक्ति अपने आप उत्पन्न हो जाती है। फिर पुरूष नित्यनैमित्तिक कर्मों को सात्विक त्याग पुरस्सर केवल भगवदाराधन रूप समझकर निषिद्ध काम्य कर्मो का सर्वथा परित्याग करते हुए योगाभ्यास करता है। अवहित चित योगी के मार्ग में बीच-बीच में सिद्ध विरोधी अनेक अन्तराय आते रहते हैं। अत इन अन्तरायों का भी योगी द्वारा दूर से त्याग कर देना चाहिए। इस प्रकार दृढ़ सकल्प युक्त चित्त से मुक्तयुपाय भूत समाधि का आरम्भ करना इस अक के द्वारा बताया गया है।

कवि ने चतुर्थ अक का नाम ‘ कामादिव्यूह भेद’ रखा है। समाधि आरम्भ करने वाले पुरूष का चित्त पूर्वानुभूत विषय वासनाओं से कलुषित रहता है और समाधि स्थिरता नहीं प्राप्त करता । वह सासारिक भोगों की पुन अभिलाषा करता है। परन्तु योगी कुछ समय तक वैषयिक सुख का अनुभव करके दोष देखकर पुन इससे विरक्त हो जाता है। वैषयिक सुख और वैराग्य दोनों के बीच में वह दोलायमान होता है और नितान्त दयनीय दशा को प्राप्त होता है। इस

प्रकार वह अन्यजनों द्वारा अपमानित होता है और उन्हें मारने की इच्छा करता है। इस क्रोध द्वेष की सम्भावना पाकर मात्सर्य इत्यादि सहित राग और क्रोध व्यूह बनाकर पुरुष को नष्ट कर देना चाहते हैं। उस समय तितिक्षा, मुदिता इत्यादि कवच की सहायता से विवेक के बल से कामादिव्यूह का भेदन करके फिर से वह समाधि में स्थिरता लेने की चेष्टा करता है।

पचम अक का नाम 'दम्भादिउपालम्भ' है। इस अक में पुरुष अपनी समाधिनिष्ठता की प्रसिद्धिकरना चाहता है और इस प्रकार दम्भ का आश्रय ग्रहण करता है। दर्प भी दम्भ की सहायता लेता है। इसकी सिद्धियों से अन्य लोग ठगे जाते हैं। प्रतारित जन इसे प्रभूत धन देते हैं। उससे अभीष्ट भोगों का सम्पादन करके वह इसका उपयोग करता है। फिर अपने पूर्व जन्मों के वृतान्तों का स्मरण करता हुआ सा कुछ असम्बद्ध और अश्रद्धेय प्रलाप करता है। प्रतारित जन इसे सिद्धस्त समझकर बड़ा ही आदर करते हैं। अनेक अवसरों पर कथा- प्रसग में असम्भाव्य एव अतथ्य अपने वृतान्त का ही बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन करता है। इससे वह लोगों से और धन प्राप्त करता है। यह ध ान में अनादर दिखाता हुआ सब कुछ त्याग देता है। इस कारण श्रद्धालुजन शिष्य आदि के व्यपदेश से पर्याप्त धन अर्पित करते हैं। फिर दोनों अन्यान्य भोगों का अनुभव करते हैं। ऐसे समय में वह असूयायुक्त हो जाता है। रामादि अवतारों की निन्दा करता है। अपने को सकल शास्त्रवेता और निर्दोष बताता हुआ अन्य सभी सिद्धान्तों को सदोष बताता है। इस प्रकार समाधिस्थ पुरुष में होने वाले अनेक दोषों का वर्णन करके यह प्रतिपादित किया गया है कि अनर्थनिदान भूत दम्भादि में समाधिस्थ पुरुषों को मन नहीं लगाना चाहिए।

षष्ठम अक का नाम 'स्थान-विशेष-सग्रह' है। विष्कम्भक में ही सभी पुण्य तीर्थो के कलिकाल से प्रदोषित होने के कारण हेयत्व बताकर हृदयगुहा ही योग के लिए उचित स्थान है, यह निर्णय दिया जाता है। आगे एक-एक करके पुण्य क्षेत्र तीर्थो की सदोषता का वर्णन किया गया है, जैसे-चौदहों भुवन में पृथ्वी ही धर्मास्पद है अन्य तो भोग भूमिया है। पृथ्वी पर भी भारतवर्ष ही उत्तम है। उसमें कैलास यद्यपि काम को जला देने से शिव का निवास स्थल है, किन्तु परम एकान्ती भागवतों के लिए योग्य न होने के कारण हेय है। गन्धमादन, वन इत्यादि सगीत ध्वनि से युक्त होने के कारण चित-क्षोभक है। हिमालय विद्याधर आदि मिथुनों का भोग स्थान है। अत समाधि स्थान युक्त नहीं है। अयोध्या पाषण्डिगणकीर्ण होने के कारण धर्म विलुप्त है अत समाधि योग्य नहीं है। वाराणसी म्लेच्छप्राय होने के कारण सदाचार रहित है। श्रीरङ्0म क्षेत्रादि भी योगविध्नों से भरे हैं। इसलिए कहीं किसी एकान्तप्रदेश में बैठकर हृदय गूहा में निवास करने वाले लक्ष्मीपति का ध्यान करना चाहिए, यह बताया गया है-

साकाशीति न चाकशीति भुवि सायोध्येति नाध्यास्यते
सावन्तीतिन कल्मषादवति सा काञ्चीति नोदञ्चति।
धते सा मधुरेति नोत्तमधुरा मान्यापि नान्यापुरी
या बैकुण्ठकथा सुधारसभुजा रोचते नो चतेसे[8] ।।

सप्तम अक का नाम 'शुभाश्रय निर्धारण' है। इसमें हृदयकमलरूप योगासन पर भगवान् के ध्यान के प्रकार का वर्णन किया गया है। विषकम्भक में सस्कार नामक विवेक का शिल्पी आकर अपने कार्यो का वर्णन करते हुए विवेक के आने की सूचना देकर चला जाता है।

आचार्योपदेश तथा शास्त्रादिज्ञान से अनुभूत सस्कार द्वारा स्मृति पथ में लाये गये भगवान् के दिव्य स्वरूप का ध्यान होने पर भी प्रमादादिक से निद्रा, आलस्य इत्यादि के आने पर मोहवश सस्कार का विच्छेद हो जाता है और ध्यान भग हो जाता है। फिर दृढ़ाध्यवसाय पुन सस्कार को उद्बुद्ध करके भगवद्ध्यानारूढ़ करता है। विवेक, सुमति और व्यवसाय के द्वारा होने वाले दर्शन के बहाने, होने वाले भगवत्अवतारों का वर्णन है। बाद में निदिध्यासन की मोक्ष प्रदता का प्रतिपादन है। फिर विष्णु के दशों अवतारों की महिमा का कथन है।

अष्टम अक का नाम 'मोहादिपराजय' है। व्यूहभेद से पराजित कामादि, दुर्वासना और अभिनिवेश से उत्तेजित होकर स्थिर समाधि वाले पुरुष के चित को फिर विषयाभिमुख करने की तैयारी करते हैं। इस स्थिति को अनुकूल समझकर महामोह अपने कामादि सैनिकों सहित राजा विवेक पर आक्रमण करता है। इसके बाद कामादि द्वारा समाधिस्थ पुरुष की अक्षोभ्यता तथा विवेक की सर्वथा अजेयता समझकर दुर्वासना और अभिनिवेश मोहपक्ष का परित्याग करके सुवासना और समाध्यभिनिवेश नाम से विवेक के पक्ष में सम्मिलित हो जाते हैं। विवेक सपरिवार काम का वध करने के लिए उद्यत होता है। तदन्तर नारद-तुम्बरू-सवाद के द्वारा विवेक और महामोह का युद्ध, मोह विनाश तथा समाधि-सम्पादन का सरस वर्णन किया गया है।

नवम अक का नाम 'समाधि सम्भव' है। अब विवेक द्वारा मोहादि के पराजित हो जाने पर पुरुष की भक्ति प्रवणता और अधिक बढ़ती है। किन्तु कर्म नाम्नी अविद्या विनष्ट कामादिक को फिर कुछ-कुछ उठाती है। इस समय योगी को प्रमाद रहित होना चाहिए। समाधिसिद्धि के लिए भगवान् की शरणागत होकर वर्णाश्रमादि धर्मो के

पालन में सावधान रहना चाहिए। इस कारण प्रसन्न होकर भगवान् समय पाकर कर्मसचयरूपा अविद्या को हटाकर समाधि सिद्धि प्रदान करते हैं। इस समय पुरूष की स्थिति खापोद्वौधव्यतिकर तुल्य रहती है, न तो इसे पूर्ण ब्रह्मानुभव रहता है और न ससार में गाढा सग रहता है। इसी समय स्वेच्छा से प्राप्त सदाचार्य द्वारा उपदिष्ट मन्त्र के अनुसन्धान से समाधि की सिद्धि होती है।

दशम अक का नाम 'नि श्रेयसलाभ' है। इस अक में समाधिसिद्ध पुरूष से उपासना के कारण भगवान् प्रसन्न होते हैं। अर्चिरादि मार्ग से योगी को परमपद की प्राप्ति होती है। वहा पर ब्रह्मसायुज्य नामक मुक्ति को प्राप्त करने वाले पुरूष को निरतिशय ब्रह्मानन्द का अनुभव होता है। अन्त में कवि इस नाटक का समर्पण भगवान् वासुदेव के सम्मुख करता है।

उद्धरणानुक्रमणिका

1– उणादि प्रकरण– सिद्धान्त कौमुदी 4/65
2– सस्कृत साहित्य का इतिहास। बल देव उपाध्याय पृ0 615
3– हिन्दी नाटक का उद्‌भव और विकास। डा0 दशरथ ओझा
डा0 ओझा ने ऐसे नाटको को प्रतीकात्म या भावात्मक नाटक की सज्ञा दी है।
4– मृदुललितपदाटय गूढशब्दार्थ हीन जनपद सुखबोध्य युक्तिमन्नृत्ययौज्यम्।
बहुकृतरसमार्ग सन्धिसन्धानयुक्त सभवतिशुभकाव्य नाटक प्रेक्षकाणाम् ।। नाटयशास्त्र 16/128
5– काव्यप्रकाश– प्रथम उल्लास कारिका 2
6– श्रुतिकिरीट विहारजुषाधिया सुरभितामिह नाटक पद्धतिम्।
मुहुरवेक्ष्य विवेकमुपहनयन् मतमपश्चिमयामि विपश्चिताम्।। स0सू 1/7
7– यस्मिन् गुणास्तनुमृत सदसत्प्रकारा
प्रात्रीभवन्त्यनुगुणेरधिदेक्तै स्वै । स0 सू0 1/8
8– स0सू0 6/38

तृतीय अध्याय

संकल्पसूर्योदय का नाट्य शास्त्रीय समीक्षा

(क) सन्धियां तथा सन्ध्यंग

(ख) अर्थोपक्षेपक तथा नाट्य विषयक अन्य पात्र

सकल्पसूर्योदय का नाट्य शास्त्रीय समीक्षा -

श्री वेदान्तदेशिक ने सकल्प सूर्योदय नाटक को दोष रहित लक्षण समृद्धि वाला कहा है[1]। इसका अर्थ यह है कि इस नाटक में नाट्यशास्त्र के सभी विशेषताओं का पालन सम्यक् रूप में किया गया है। यह दश अको का नाटक है। यद्यपि नाटक और प्रकरण दोनों ही दश अक के हो सकते हैं परन्तु नाटक का इतिवृत प्रख्यात होता है और प्रकरण का इतिवृत कल्पित (उत्पाद्य) हुआ करता है। प्रमाणों में उत्तम उपनिषदों में प्रख्यात सिद्धान्तों को इसमें इतिवृत्तात्मक रूप देकर इसकी रचना की गई है। इस कारण इसक इतिवृत्त को काल्पनिक न कहकर प्रख्यात ही कहना उचित है। इस कारण सकल्पसूर्योदय को नाटक ही कहा जाएगा। इस नाटक का नायक विवेक है। वह शुद्ध-अशुद्ध उचित-अनुचित,पुण्य-पाप,पर-अपर आदि विवेचनक्षम है। उसकी पत्नी का नाम सुमति है। इसके सहायक व्यवसाय,शम,दम,इत्यादि हैं। प्रतिनायक महामोह है। महामोह की पत्नी दुर्मति है। महामोह के काम, क्रोध इत्यादि परिवार हैं। इसके अतिरिक्त इस नाटक में सभी अवस्थाओं,अर्थ प्रकृतियों,सन्धियों और सन्ध्यगों का भी समावेश किया गया है।

(क) <u>सन्धियां तथा सन्ध्यंग</u>

फल की इच्छा वाले नायकादि के द्वारा प्रारब्ध कार्य की पाच अवस्थाये होती हैं आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम[2]। प्रयोजन सिद्धि के हेतुओं को अर्थप्रकृतिया कहते हैं। ये

अर्थप्रकृतिया भी पाच हैं । बीज, विन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य[3]। इन आरम्भ आदि पाच अवस्थाओं से जब बीजादि पाच अर्थप्रकृतीया क्रम से मिलती हैं तो क्रमश मुख, प्रतिमुख , गर्भ, अवमर्श और उपसहार इन पाच सन्धियों की रचना होती है[4]। अवमर्श को विमर्श तथा उपसहार को उपसहृति या निर्वहण सन्धि भी नाम है। जब किसी एक प्रयोजन में परस्पर सम्बद्ध कथाशों को किसी दूसरे प्रयोजन से सम्बद्ध किया जाता है तो उस पारस्परिक सबन्ध या मेल को सधि कहते हैं[5]। मुख सन्धि में विविध प्रकार के रस को उत्पन्न करने वाली बीजोत्त्पति पायी जाती है[6]। इसके बारह अग होते हैं जो निम्न लिखित हैं– उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, विलोमन, उक्ति, प्राप्ति, समाधान, विधान, परिभावना, उद्भेद , भेद तथा करण[7] ।

'सकल्पसूर्योदय' नाटक के प्रथम अक में विष्कम्भक के बाद बीज और आरम्भ की समन्वयात्मक मुख सन्धि प्रारम्भ होती हैं। "तत प्रविशति" से इसकी अवतारणा की गयी है। राजा के कथन,– 'प्रिये ,हन्त निर्विकार पुरूष पीडया क्रीडन्त एते कामक्रोध लोभादय सुपन्थानमास्थिता वय पुनस्तमेव नि श्रेयसेन योजयितु समस्तजनसासिद्धिकसुहृदौ भगवतस्तापत्रयामिहतसर्वजनसजीवर्नी दयावृष्टि प्रवाहयन्त वदध्वना प्रस्थिता । अहो महानयमुन्मत प्रलाप[8] के द्वारा बीज का बोध होता है क्योंकि पुरूष के अन्यान्य विकारों को दूर करके भगवत् कृपा द्वारा उसमें सत्य सकल्प उत्पन्न करना ही इस नाटक का फल हैं जिसका कि बीजरूप इस कथन में उल्लेख हुआ है। बीज का तात्पर्य है, अल्प रूप में प्रक्षिप्त होकर बाद में विस्तार प्राप्त करके फलावसान तक जाना[9]।

इसी कथन के प्रश्चात्–

महत्यारम्भेस्मिन् मधुरिपुदयासभृति धृति–

र्बहिष्कृत्यारातीन सुमुखि बहिरन्तश्च भवत ।

समाधावाधाय क्षपितबृजिन क्षत्रिणमह

पर प्राप्त्या धन्य परिणमयितु प्राप्तनीयम[10] ।।

श्लोक द्वारा 'मधुरिपुदया सम्भृतधृति' से प्रथम अक का अर्थ बहिष्कृत्यारातीन् से वाह्य कुदृष्टियों का बहिष्कार रूप द्वितीयाकार्थ' अन्तर्मवन्त से कामक्रोधादि बहिष्कार रूप तृतीय–चतुर्थ–पचमगअष्टम अको का अर्थ समाधावाधाय' से उनासना में मनस्थापन द्वारा नवम अकार्थ और 'परप्राप्ति' से दशम अक का अर्थ उपक्षिप्त हुआ है।

अत यही मुखसन्धि का उपक्षेप नामक अग है । क्योंकि काव्यार्थ की समुत्पत्ति को ही उपक्षेप कहा गया है[11]।

मुख सधि का दूसरा अग परिकर है।

'मिथ कलहकल्पना विषम वृत्ति लीलादया–

परिग्रहण कौतुक प्रथितपारवाश्य प्रभु ।

स्वलक्षितसमुद्रमे सुकृत लक्षणे कुत्रचित्

घुणक्षतलिपिक्रमादुपनिपातिन पाति न ।।

स0सू01/67

इस श्लोक के द्वारा बीज का थोड़ा विस्तार करने के कारण 'परिकर' नामक सन्ध्यग यहा मिलता है[12]।

अगले श्लोक–

सुखदु खवाहिनीना व्यत्यविनिमय निवर्तमानर्हे।

नियतक्रमे प्रवाहे निपतित मुत्क्षिप्य मोदते देव ।। स0सू01/68

में उत्क्षिप्यमोदते से बीज का निष्पादन (दृढीकरण) होने के

कारण 'परिन्यास' नामक मुखसन्धि का तीसरा अग कहा गया है[13]।

स्वरक्षण भरार्पणक्षणिक सत्रिण क्षेत्रिण

प्रवर्त्य कृपया स्थिति प्रभुरभूत पूर्वोदयाम्।

जगद्विपरिवर्तन प्रथित नित्यशक्ति स्वय

क्षिपत्य पुनरङ्कुर दुरितमस्य लक्ष्मीपति ।।

स0सू01/80

इस श्लोक में विलोमननामक सन्ध्यग स्वीकार करना चाहिए, कारण कि उपयुक्त श्लोक में लक्ष्मीपति के गुणो का वर्णन किया गया है। और गुणों का र्निवर्णन ही विलोमन कहा जाता है[14]।

अर्थ के निर्धारण को युक्ति कहते है[15] ।

राजा का कथन–

दु सहानादिदु खसागर निमग्नस्य यथागम यथान्याण्य च केनचित्कारणेन समुत्तार सम्भविष्यतीति– के द्वारा 'युक्ति' नामक सन्धयग का वर्णन किया गया है।

अगले श्लोक–

निरपायदेशिक निदर्शितामिमा

कमला सहाय करूणाधिरोहणीम्।

क्रमशोऽधिरुह्य कृतिन समिन्धते

परिशुद्धसत्वपरिकर्मिते पदै।

स0सू01/81

इसमें कृतियों की शुद्ध सत्वगुणमय परमपद प्राप्ति का वर्णन किया गया है। अत यहा 'प्राप्ति' नामक सन्ध्यग है कारण कि सुखार्थ अथवा मुख्यार्थ को प्राप्त करना ही 'प्राप्ति' कहा गया है[16]।

बीजार्थ का उपगमन 'समाधान' कहा जाता है[17]। प्रस्तुत

श्लोक में 'समाधान' नामक सन्ध्यग प्रदर्शित किया गया है।

स्वयमुपशमयन्ती स्वामिन स्वैरलीला।

स्वमतमिह दुहाना स्वादु पथ्य प्रजानाम् ।

नियतमियमिदानीमन्यदा वा भवित्री

निरवधि सुख सिद्धयै निष्प्रकम्पानुकम्पा।।

स0सू01/82

सुमति के कथन'अपरिमितदरितमरितस्य जन्तो दु खसागरा दुक्षारणावचन बालजनसन्तोषवचनमिवोपच्छन्दनम् के द्वारा मिले हुए सुखदु ख रूप अर्थ प्रकाशन रूप से 'विधान' नामक सन्ध्यग दिखाया गया है[18]। इसे विभावन भी कहा जाता है।

आवध्नती विगत शान्तिमनादि निद्रा

चेतस्विनस्त्रि गुण शक्तिमयी त्रियामा।

नाथस्य केवलमसौ नरकान्त कर्तु,

सकल्प सूर्य विभवेन समापनीया।।

स0सू01/87

उपर्युक्त श्लोक के द्वारा अनुभूयमान अनादि ससार बन्धन विष्णु के सकल्प मात्र से निवर्त्य होने के कारण एव सुमति के कथन-

आर्यपुत्र! ,अद्य खलु देवाना मुनीनामपि परावर पुरूष विवेचने डोलापते चिन्ता । त्वया पुन कथमेकस्मिन् पुरूषात्तमे निष्ठा नियम्यते के द्वारा कुतूहल एव आश्चर्य प्रकट किया गया है। अत यहा परिभावना[19] नामक मुख सन्धि का अग है।

अपजन्मजरादिकाम समृद्धि

कृपया समुखयन्नशेष पुसाम्।

पर दैवतपारमार्थ्य वेदी

परिगृह्णातु पराशर स्वयन ।। स0सू01/91

उपर्युक्त श्लोक के द्वारा बीजार्थ का प्रकाशन रूप 'उद्भेद'[20] नामक मुख सन्ध्यग का कथन किया गया है।

सुमति के कथन 'आर्यपुत्र'[1] अनुत्तर मेतदुत्तरम्। अन्य पुनरनन्तसाधननिगमान्तनिरूपण विलम्बमसहमानस्य त्वरमाणहृदयस्य चेतनस्य त्वा प्रार्थयामि[21] के द्वारा 'भेद'[22] नामक मुख सन्धि का अग प्रस्तुत किया गया है।

रिपुगण विजिगीषाविन्दु लेशोऽप्यसौ मे

मधु जिदनुजिघृक्षा वाहिनी वधितात्मा।

सफलयितुमधीष्टे साधु सप्लावयिष्यन्

यतिगण बहुमान्य यत्नसतान वृक्षम।।

स0सू0 1/97

इस श्लोक के द्वारा 'करण[23] नामक मुखसन्धि का अग प्रस्तुत किया गया है, क्योंकि प्रस्तुत अर्थ का प्रारम्भ करना ही 'करण' कहा गया है। यहा पर प्रस्तुत श्लोक में 'रिपुगणविजिगीषा' इत्यादि के द्वारा 'आन्तरार्थ ' आदि से कहे जाने वाले विन्दु की ओर अर्थ का निर्देश करते हुए सफलयितुम घीष्टे (सफल होऊगा) से प्रकृतार्थ का आरम्भ सूचित किया गया है।

इस प्रकार 'सकल्पसूर्योदय' के प्रथम अक में बीज और आरम्भ समन्वयरूप मुख सन्धि अपने बारह अगो के साथ प्रस्तुत की गई है।

प्रतिमुख सधि में प्रयत्न अवस्था और विन्दु अर्थ प्रकृति का समन्वय रहता है । फलप्राप्ति को न देखते हुए भी फल प्राप्त करने

के लिए उपायों का अन्वेषण करना प्रयत्न नामक अवस्था है[24]। प्रयोजन के विच्छिन्न हो जाने पर भी अविच्छिन्न रखने वाला फल प्राप्ति प्रर्यन्त प्रधान नायकगत गुणादि का अनुसधान विन्दु अर्थप्रकृति है[25]। इनके योग की स्थिति में जहा पर बीज कही नष्ट होता और कहीं प्रकट होता दिखायी दे वहा प्रतिमुख सन्धि होती है[26]। प्रतिमुख सधि के 13 अग हैं जो निम्नलिखित हैं–विलास, परिसर्प, विधूत, तापन, नर्म, नर्मद्युति, प्रगमन, निरोध, पर्युपासन, वज्र, पुष्प, उपन्यास तथा वर्ण–सहार[27]।

यहा पर प्रतिमुख सन्धि के साग निरूपण के लिए 'तत प्रविशति'[28] इत्यादि के द्वारा पात्र का प्रवेश प्रस्तुत किया गया है। इसके अनन्तर प्रथम अक में उपक्षिप्त पुरूष मोचन रूप बीज के उसके उपाय और उसके फलप्रद देवता की श्रेष्ठता दिखाने के कारण किचित् लक्ष्य और परिपक्ष निरास की अपेक्षा के कारण किचित् अलक्ष्य (नष्ट) रूप प्रकट करने के कारण यह प्रतिमुख सन्धि है। इसमें सेनापति[29] इत्यादि के द्वारा 'विन्दु' का उपक्षेप किया गया है, क्योंकि वह प्रतिद्वन्द्वी के आक्षेप से पुरूष मोचन रूप वस्तु के विच्छेद होने पर पु न अविच्छेद का कारण है। 'कृत्याकृतप्रत्यवेक्षणेन'[30] से फलप्राप्ति को न देखते हुए उस पर विमर्शन के द्वारा 'स एष समय' इस उत्सुकतापूर्ण कथन से 'प्रयत्न' नामक अवस्था दिखाई गई है। इस प्रकार 'विन्दु' अर्थ प्रकृति और 'प्रयत्न'अवस्था की समन्वित रूप प्रतिमुख सन्धि का निदर्शन हुआ।

प्रतिमुख सन्धि का प्रथम अग 'विलास'[31] हैं । दृष्ट अर्थ विषयक इच्छा को 'विलास' कहते है। 'शमनियमत परम'[32] में दुष्टार्थ रूप बीज का ईहात्मतया वर्णन होने के कारण विलास नामक प्रतिमुख

सन्धि का अग निरूपित हुआ है।

'सचालितनिष्कम्पम'[33] के द्वारा 'परिसर्प' नामक प्रतिमुख सन्धि का अग दिखाया गया हैं। क्योंकि जब बीज एक बार दृष्टहो गया हो, किन्तु फिर दिखाई देकर नष्ट हो जाए और उसकी खोज की जाए तो वह 'परिसर्प'[34] कहलाता हैं । यहा पर राजा के कथन से प्रतिभटो के अन्धकार के समान व्याप्त होने और वृहस्पति को भी जड बना देने वाले बावदूकों के वर्णन से नष्ट बीज की खोज शिष्य (वाद) को सम्बोधित करके कहे गये गुरु (सिद्धान्त) के निर्दिष्ट वाक्य से होती है।

प्रतिमुख सन्धि का तीसरा अग 'विधूत' है। भरत ने अपने ग्रथ नाट्यशास्त्र में इसकी व्याख्या में कहा है कि अनुनय किये अर्थ को पहले स्वीकार न करना तथा बाद में स्वीकार कर लेना "विधूत"[35] कहलाता है। कुछ लोग अरति (बीज के नष्ट होने पर दुखित होकर लक्ष्य को अलक्ष्य मानकर उसकी इच्छा के त्याग) को विधूत कहते हैं[36]। सकल्प सूर्योदय नाटक में 'कथमिदानीं विजिगीष्यन्ते विपक्षवादिन '[37] तथा 'विपक्षनिरसनम कुर्वाण '[38] के द्वारा अभीष्ट विपक्ष मत निराकरण में अनिच्छा दिखायी गयी है । अत इसमें 'विधूत' नामक अग है।

नाट्य शास्त्र के अनुसार अपायदर्शन रूप 'तापन'[39] प्रतिमुख सन्धि को चौथा अग है। दशरूपकम् में तापन के स्थान पर 'शम' को अग माना गया है। शम का अर्थ है अरति का शमन[40]। सकल्प सूर्योदय नाटक में

कुटिलमतिभि क्लृप्ता वाह्यै कुदृष्टिमिरप्यसौ

कथकपरिषद्धौरेयाणामपि क्षणकर्कशा ।

प्रलपनगुणीभूतालीकप्रकाशनपत्रला

युवतिहृदयक्रूरा युक्तिर्युनक्त्यमित भयम्।। स0सू0 2/20

इसके द्वारा तापन एव 'तदादिश्यतामयमन्तेवासी समीहित समर्थनाय सदस्यतिना महाराजन'[41] के द्वारा शमनामक अग प्रदर्शित किया गया है।

मोघ प्रलाप मुखरदुन्दुभय कलहकोलाहल कुतूहलिन कथका,
श्वावराह कलहक्रमादमी सपतन्ति निगमान्तरोधका ।
तानिमान्युगलवाद सिद्धये वारयत्वयमसौ चमूपति ।। स0सू0 2/92

उपर्युक्त श्लोक के द्वारा 'नर्म' नामक प्रतिमुख सन्धि का अग प्रस्तुत किया गया है। क्योंकि क्रीडार्थ किये गये हास्य[42] को या परिहास वचनों[43] को 'नर्म' कहा गया है। तथा प्रस्तुत श्लोक में श्ववराह के कलह से समता दिखाकर परिहास किया गया है।

'अहोनु खल्वचेरचस्य यष्टि प्रदीयते महामोह पक्षपातिनो गर्दभगाने सृगाल विस्मयमनुस्मारयन्ति[44] के द्वारा दूसरे पक्ष के दोष कथन की उपेक्षा करके परिहास किया गया है। इस कारण यहा 'नर्मद्युति' नामक प्रतिमुख सन्धि का अग है क्योंकि दोषों को ढकने के लिए जहा हसी की जाती है[45] उसे नर्मद्युति कहते हैं।

नाट्यशास्त्रकार ने 'प्रगयण' नामक सन्ध्यग का वर्णन करते हुए बताया है कि जहा पात्रों में परस्पर उत्तरोत्तर वचन पाये जाय (जिनसे बीज का साहाय्य प्राप्त हो) वहा पर 'प्रगयण'[46] नामक सन्ध्यग होता है। इसको प्रगमन या प्रशमन भी कहते हैं। भगवन्नतिधृष्टोऽयम[47] इत्यादि के द्वारा प्रगयण या प्रगमन का निरूपण होता है।

व्यसनसम्प्राप्ति को निरोध कहते हैं[48]।

यहा व्यसन का अर्थ खेदमात्र या हितप्राप्ति में बाधा से है। प्रस्तुत नाटक में–

प्रधानपुरूषो यदि प्रकृतियन्तितैरादृतौ
पर किमपराध्यति श्रुतिसहस्र चुड़ामणि ।
कुतर्कशतकर्कशैर्यदि विभु प्रतिक्षिप्यते
भवत्पारिगृहीतमप्यपहरन्तु पाटच्चरा ।। स0सू0 2/66

इसके द्वारा प्रधान और पुरूष के अनम्युपगम के कारण निरोध नामक प्रतिमुख सन्ध्यग प्रस्तुत किया गया है।

नायक इत्यादि के द्वारा किये गये किसी के अनुनयविनय को 'पर्युपासन' कहते हैं।[49] इस नाटक में आर्य पर्याप्ततोऽसि[50] इत्यादिक राजा के कथन से 'पर्युपासन' नामक प्रतिमुख सन्धि का अग वर्णित किया गया है।

नाटक में 'पुष्प' नामक प्रतिमुख सन्ध्यग का वर्णन इस निम्नलिखित स्थान पर हुआ है–'देव अपर इवाय पाराशर्म पचरात्रतन्त्र प्रतिष्ठापितवान्[51] कारण कि जहा पर विशेष वचनों से बीज का प्रकाशन हो वहा 'पुष्प' सन्ध्यग कहलाता है[52] । यहा पर शिष्य को अपर व्यास कहकर, पचरात्र तन्त्र का स्थापक कहकर बीज के पुष्पित होने की सूचना दी गई है।

गाथा ताथागतानाम[53] तथा 'यदिभाष्कर यादवप्रकाशौ[54]' इत्यादि रूखे वचनों का प्रयोग करके 'वज्र' नामक प्रतिमुख सन्ध्यग कहा गया है। कारण कि प्रत्यक्ष रूखे वाक्य को ही "वज्र" कहते हैं।[55] उपपत्ति युक्त वाक्य या उपपत्ति प्रकट करने वाले अर्थ को 'उपन्यास' कहते हैं।[56] नाटक में निम्नलिखित श्लोक

वशवद वचोवृत्तिर्वादाहव महारथ ।

परिभूत विपक्षोऽसौ पारितोषिकमर्हति ।। स0सू0 2/98

के द्वारा पारितोषिक दान में वशवद इत्यादि के द्वारा उपपत्ति का वर्णन हुआ है। अत यहा 'उपन्यास' नामक प्रतिमुख सन्ध्यग है ।

चारों वर्ण जहा एक साथ एकत्रित हो 'वर्णसहार' सन्ध्यग होता है [57] यहा पर चातुर्वर्ण्य के पात्र उपलक्षित हैं। प्रस्तुत नाटक में 'सम्प्रयतामहे[58] के द्वारा वैरिबल निर्मूलन के लिए सबके प्रयत्न का वर्णन किया गया है। इस तरह प्रस्तुत सकल्पसूर्योदय नाटक के दूसरे अक में प्रतिमुख सधि के 13 अगों का विधिवत वर्ण किया गया है।

तृतीय अक से लेकर अष्टम अक तक गर्भ सन्धि तथा उसके अगों का वर्णन प्रस्तुत नाटक में हुआ है। प्रतिमुख सन्धि में जो बीज कुछ लक्ष्यरूप में तथा कुछ अलक्ष्य रूप में प्रकट होता है, उसका विशेष प्रकार से प्रकट होना, विघ्नों के साथ प्रकट होना, पुन नष्ट हो जाना, फिर प्राप्त होना तथा फिर नष्ट हो जाना और फिर उसका ही बार–बार अन्वेषण किया जाना गर्भ सन्धि कहलाती है[59]। प्रस्तुत नाटक में दृष्ट नष्ट पुरूष मोचन रूप बीज का बार–बार अन्वेषण किया गया है। अत मोह विजयावधि गवेषण होने के कारण तत्पर्यन्त (अष्टम अक तक) गर्भ सन्धि दृष्टि गोचर हुई है।

गर्भ सन्धि में पताका, अर्थप्रकृति और प्राप्ति सम्भव अवस्था का मिश्रण रहता है। परार्थ आया हुआ इतिवृति जो कि प्रधान का उपकारक होता है साथ ही प्रधान के समान कल्पित होता है उसे पताका कहते हैं[60]। पताका व्यापिनी कथा होती है। इसमें पर भक्ति कथा का सर्वत्र अनुवर्तन हुआ है। अत उसी का पताका रूप में निरूपण हुआ है। प्राप्ति सम्भव अवस्था उस समय होती है जब फल

की ईषत्प्राप्ति सम्भावित रहती है[61]। अथवा जहा उपाय और विघ्न की आशका के कारण फलप्राप्ति के विषय में कोई एकान्तिक निश्चय नहीं हो पाता[62]। सकल्पसूर्योदय नाटक में पुरूषमोचन रूप फल की प्राप्ति सम्भावित ही रहती है , कोई निश्चय नहीं हो पाता है अत इसमें गर्भ सन्धि प्रयुक्त हुई है।

गर्भसन्धि के अभूताहरण, मार्ग, रूप , उदाहरण, क्रम, सग्रह, अनुमान, प्रार्थना आक्षिप्त, तोटक, अधिबल, उद्वेग और विद्रव तेरह अग होते हैं।[63]

गर्भ सन्धि के अगों के रूप में पहला अग अभूताहरण है। नाट्य शास्त्रकार भरत ने कहा है कि जहा पर कपट के द्वारा प्राप्ति कराने की चेष्टा की जाय अथवा कपट पूर्ण वाक्यों का प्रयोग किया जाय वहा अभूताहरण नामक गर्भ सन्ध्यग होता है[64]।

सकल्पसूर्योदय नाटक में चतुर्थ अक के आदि में 'तत प्रविशति कामो वसन्तश्च'[65] से लेकर 'स्वत पुरूषार्थ भूत सुलोचनाभिधात। ब्रह्म[66] इत्यादि में अभूताहरण 'सन्ध्यग प्रयुक्त किया गया है। कारण कि परम आनन्द प्रदान करने वाली प्रजाओं की सृष्टि का हेतु[67] कहकर और श्रुति को तोड़-मरोड़कर[68] कपटोपाय से स्त्रियों को ही ब्रह्म सिद्ध किया गया है। इस सन्धि का द्वितीय अग 'मार्ग' है। इसकी परिभाषा में कहा गया है कि जहा निश्चित तत्त्व का (अर्थ प्राप्तिरूप तत्त्व का) कथन हो वहा 'मार्ग'[69] नामक सन्ध्यग होता है। सकल्प सूर्योदय नाटक में बसन्त के इस कथन-

श्रृणोति कथमत्यसों परिचिनोति सपृच्छते

समर्चयति गायति स्पृशति पश्यति स्तौति च।

इतीव नियतादरो मुरभिदघ्रि सेवारसे

न भेतुमिह शक्यते स्थिर विवेक दुर्गस्थित ।।

स0सू04/36

के द्वारा विष्णु के सेवा रस में हमेशा तत्पर,स्थिर विवेक रूपी दुर्ग में स्थित पुरूष के समाधि भग में असमर्थता प्रकट करने के कारण पुरूष द्वारा भगवत् प्राप्ति तत्त्व का निश्चय सूचित होता है । इस कारण यहा पर 'मार्ग' नामक गर्भ सन्ध्यग है।

गर्भ सन्धि का तृतीय सन्ध्यग 'रूप' है। आचार्य भरत ने रूप के विषय में लिखा है कि जहा विचित्र अर्थ वाले वाक्यों में तर्क वितर्कमय वाक्यों का प्रयोग किया जाता है वहा 'रूप' होता है।[70] प्रस्तुत नाटक में असूया कथन जब लोग असीम गुणों वाले, निरवद्य राम में तारकाबध, बालिद्रोह, युद्ध में पीछे हटना आदि दोष निर्भय होकर सज्जनों की सभा में कहते हैं तो परिमित गुण वाले अनेक दोषो से युक्त पुरूष के विषय में क्यों शान्त रहेगें।

निरवधि गुणग्रामे रामे निरागसि वागसि–

स्फुरणमुषितालोका वदन्ति सदन्ति के।

वरतनहति वालिद्रोह मनागपसर्पण

परिमित गुणे स्पष्टावद्ये मुधा किमुदासते।।

(स0 सू0 5/39)

इत्यादि श्लोक में 'रूप' सन्ध्यृग का वर्णन किया गया हैं । क्योकि इसमें यह तर्क किया गया है कि यदि लोग राम में दोष दिखाते है तो साधारण पुरूष में क्यों नहीं दिखायेंगे।

अतिशय या उत्कर्ष से युक्त वाक्य'उदाहरण' सन्ध्यग कहलाता है[71] यथा 'संकल्पसूर्योदय' नाटक में कृपणों से प्रशसित लोभ

विवेक के कारण अपने शरीर में भी (धन ,स्त्री पुत्रादि की क्याबात) निष्पृह बुद्धि वाले पुरूष का क्या कर सकता है।

''पुरूषस्य विवेक विप्रलम्भात् स्वशरीरऽपि विरज्यमान बुद्धे।
कृपणप्रति नन्दनीयवृत्ति किमिवालम्बनमाश्रयत् लोभ ।।

(स० सू० 5/62)

उपर्युक्त श्लोक द्वारा पुरूषोत्कर्ष का वर्णन हुआ है इसलिए यहा 'उदाहरण' नामक गर्भ सन्ध्यग हैं।

गर्भ सन्धि का पचम अग 'क्रम' है। जहा भाव्यमान वस्तु की भावनादि के बल से अथवा परमार्थत उपलब्धि हो जाती है, वहा 'क्रम' नामक सन्ध्यग होता है।[72] प्रस्तुत नाटक में इस श्लोक द्वारा इसका अवलोकन किया जा सकता है-

'ससारावर्त वेग प्रशमन शुभ दृग्देशिक प्रेक्षितोऽहम्
सत्यक्तोऽन्यैरूपायैरनुचित चरितेष्वद्य शान्ताभि सन्धि ।
निश्शकस्तत्वदृष्ट्या निरवधिकदय प्रार्थ्यसरक्षक त्वा
न्यस्यत्वत्पादपद्मे वरदनिजभर निर्भरो निर्भयोऽस्मि।।

स० सू० 6/74

अर्थात् विवेक के कथन 'अन्य' उपायों से रहित मैं निरवधिक दयावाले आपका सरक्षक प्राप्त करके , आपके पाद पद्मों में अपना भार समर्पित करके भाररहित एव निर्भय हो गया हूँ। इसमें सागप्रपत्ति की उपलब्धि वर्णित हुई हैं। अत यहा 'क्रम' नामक गर्भ सन्धि का अग है।

अगला गर्भ सन्ध्यग 'सग्रह' है। इसका लक्षण बताया गया है कि जहा नायकादि अनुकूल आचरण करने वाले पात्र को साम या दान से प्रसन्न करें वहा साम अथवा दानकी उक्ति 'सग्रह'[73] कहलाती

है। प्रस्तुत नाटक में निम्नलिखित श्लोक द्वारा इसे समझा जा सकता है–

'तदत्रभवपुर्ज्वरज्वलन जन्मभूमौ त्वया

दिहक्षणमित पर दृढ़विलक्षया त्यज्यताम् ।। (स0 सू07/9)

अर्थात् सुमति के प्रति विवेक का यह समझाना कि अशुद्ध सृष्टि के विषयों को देखने की इच्छा छोड़ दो इत्यादि में सग्रह'नामक गर्भ सन्ध्यग है।

गर्भ सन्धि का सप्तम अग 'अनुमान' है । नाट्य शास्त्र में अनुमान के लक्षण इस प्रकार वर्णित है– जहा प्रत्यक्षादि से उपलभ्यमान सामग्री (लिग) के द्वारा एक निश्चय पर पहुँचा जाय वहा अनुमान सन्ध्यग होता है[74]। प्रस्तुत नाटक में लक्ष्मी की मूर्ति देखकर सुमति से विवेक के इस कथन में कि तुममें और लक्ष्मी में कोई अन्तर न प्रतीत होता यदि चलते समय तुम्हारे नूपुरों से मधुर ध्वनि न निकलती होती में नूपुरों के समान जान हेतु से मूर्ति और सुमति मे भेद का 'अनुमान' किया गया है। इस कारण यहा पर 'अनुमान' नामक सन्ध्याग है।

'सेवाकृतिस्त एव गुणानुभावा स्यादेव सागर सुता लिखितात्वमेव।

शिजानमजु मणि नूपुरमेखलस्ते सचार एष चतुरोयदि नान्तराय ।।

स0 सू07/26

गर्भ सन्धि का अष्टम अग 'प्रार्थना' है। इसके लिए भरतमुनि ने कहा है कि जहा पर रति, हर्ष या उत्सव की प्रार्थना की जाती है वहा प्रार्थना नामक सन्ध्यग होता है[75]।

प्रस्तुत नाटक में इसे वर्णित होते देखा जा सकता है–

साधारणेये सत्यपि स्वेच्छयैव द्वेधा विश्व यद्विभूतिर्व्यभाजि।

चूडाभागे दीप्यमानौ श्रुतीना दिव्यावेतौ दम्पति मे देयताम्।।

सoसूo 7/27

अर्थात लक्ष्मी और विष्णु की मूर्ति को देखकर विवेक अपने ऊपर दया करने की प्रार्थना करता है । भगवान् की कृपा से ही सभी हर्ष, उत्सव आदि प्राप्त होते हैं । अत यहा दया के लिए की गई याचना प्रार्थना नामक सन्ध्यग है।

गर्भ सन्धि का 'तोटक' नामक सन्ध्यग के विषय मे वर्णन किया गया है कि- सरम्भ वचन को तोटक कहते हैं[76]। सरम्भ का मतलब है आवेग पूर्ण वचन यह आवेग हर्ष क्रोध या अन्य किसी कारण से हो सकता है। सकल्पसूर्योदय नाटक में हिरण्यकशिपु का प्रहलाद के प्रति आक्षेप 'क्व नुते पुरूषोत्तम[77] तोटक नामक सन्ध्यग का उदाहरण है, क्योकि उसका यह कथन क्रोध एव अमर्ष के कारण प्रयुक्त हुआ है।

दशरूपक के अनुसार तोटक के अन्यथाभाव (उलटा) को विद्वान् लोग 'अधिबल'[78] सन्ध्यग कहते हैं। धनजय के अनुसार क्रुद्ध वचन तोटक है। इसकारण क्रुद्ध वचन का उलटा विनीत व दीन वचन अधिबल है। सकल्प सूर्योदय नाटक में भगवन् धन्या खलु वयमिदानीं सवृता[79] इत्यादि महामोह के कथन से गर्भ सन्धि का अधिबल नामक अग प्रस्तुत किया गया है। नाट्य शास्त्र के अनुसार कपट से किए गए अतिसन्धान (वचना) को अधिबल कहते हैं[80]। प्रस्तुत नाटक में नारद के स्वगत कथन-

मूढ़ा स्वभवाऽसौ विश्वमपि विपरीत कल्पमति' के अनन्तर कपटपूर्ण वाक्यों से महामोंह की प्रशसा 'महाराजत्वमेव खल्वद्भुत । यदुत पुष्कर पलाश वन्निर्लेप स्वभाव पुरूषमनन्तामन भोगाननुभावयसि[81]

इत्यादि रूप में करके उसे उद्दीप्त (भड़काया)किया गया है। अत यहा अधिबल नामक गर्भ सन्धयग है।

राजा ,शत्रु या दस्यु से उत्पन्न हुआ भय 'उद्वेग' नामक सन्ध्यग कहलाता है[82]। प्रस्तुत नाटक में महामोह के कथन 'प्रिये, विपक्ष प्रतार्यमाण पितरमनुचिन्त्य भृश द्वये[83]। इत्यादि के द्वारा शत्रु (विवेक)कृत भय प्रकट होता है कि पुरूष न जाने किस अवस्था में होगा। अत यहा गर्भ सन्धि का उद्वेग नामक अग का वर्णन हुआ है।

गर्भसन्धि के 'विद्रव' नामक अग का वर्णन करते हुए नाट्य शास्त्रकार ने कहा है कि जहा पात्रों में शका या भय का सचार हो वहा विद्रव नामक सन्ध्यग होता है [84]। धनजय ने अपने दशरूपक में विद्रव को सम्भ्रम कहा है[85]। सकल्पसूर्योदय में क्षमा से प्रशिमतकोप न जाता है, न ठहरता है और लज्जित होकर खड़ा रहता है[86]। साथ ही कभी न लौटने वाला को पीछे खिसक रहा है[87] के द्वारा विद्रव या सम्भ्रम का वर्णन किया गया है, क्योंकि क्रोध की यह दशा भयकृत ही है।

गर्भ के उद्‌भेदन को आक्षिप्ति कहते हैं[88]। इसी को कुछ लोगों ने आक्षेप कहा है। और जहा गर्भ एव बीज अथवा गर्भ के बीज का उद्‌भेद हो तथा बीज को विशेष रूप से प्रकट किया जाय,उसे आक्षिप्ति कहते हैं[89]। प्रस्तुत नाटक में वीर अग्रगण्य महामोह युद्ध में विवेक से अपूर्व विपत्ति प्राप्त करता है।

निखिलसुभट श्लाघारेखाविलड्घन जाड्घिको
निरवधिबलो मोह क्रीडन्ननुत्तरेण रणे।
विविध निगमग्रामस्थेयाद्विवेक महीभृतो
विपदमधुना वीरादस्मादिदप्रथमा गत ।।(स0 सू08/101)

इस श्लोक के द्वारा आक्षेप नामक सन्ध्यग प्रस्तुत किया गया है।

इस मोह विजय से पुरूष मोचन रूप बीज को प्रकट किया गया है। क्योंकि यह निश्चित रूप से ज्ञात है कि मोह के पराजित हुए विना पुरूष को मुक्त नहीं किया जा सकता है। इस तरह सकल्प सूर्योदय नाटक में सागोपाग गर्भ सन्धि का निरूपण प्रस्तुत किया गया।

अब नाटक में विमर्श सन्धि पर बिचार किया जाएगा। जहा गर्भ सन्धि के द्वारा प्रकट किये गये बीज फल की प्राप्ति के लिए विलोमन (लोभ), क्रोध या व्यसन से विचार किया जाय, वहा विमर्श सन्धि होती है[90]। यह नियताप्ति, अवस्था एव प्रकरी अर्थप्रकृति के सम्बन्ध से उत्पन्न होती है। जब विघ्नों के अभाव के कारण फलप्राप्ति निश्चित हो जाती हैं तो नियताप्ति नामक अवस्था होती है[91]। जहा पर केवल परार्थ फल का अनुष्ठान किया जाता हैं और वह कथा अनुबन्ध विहीन (एक प्रदेश तक सीमित) होती है वहाँ प्रकरी नामक अर्थप्रकृति होती है।[92] नवम अक में 'अविद्या कर्म सञ्ज्ञा तुमृतसजीवनी स्थिता' इत्यादि द्वारा कर्मनाम्नी अविद्या द्वारा निरस्त कर्म को पुन उद्बुद्ध करके पुरूष में सत्कार प्राप्ति के प्रति राग तथा तीरस्कार के प्रति क्रोध उत्पत्ति फल का निबन्धन करने के कारण प्रकरी का प्रयोग किया गया है। प्रस्तुत नाट्क के नवम अक में (मोह के पराजित हो जाने से) पुरूषमोचन रूप फल प्राप्ति निश्चित हो जाती है। किन्तु व्यसनादि कारणों से उसका पुन परामर्श किया गया है। अत यहा पर विमर्श सन्धि है। नियताप्ति और प्रकरी के सन्धानार्थ अपवाद, सफेट (समेद) विद्रव, द्रव, शक्ति, द्युति, प्रसग, छलन, व्यवसाय, विरोधन, प्ररोचना, विचलन और आदान नामक तेरह अग[93] विमर्श

सन्धि में प्रयुक्त होते हैं।

'अपवाद' विमर्श सन्धि का प्रथमअग है । भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में इसका लक्षण करते हुए लिखा है कि जहा पर दोष का प्रख्यापन किया जाता, वहा अपवाद नामक विमर्श सन्धयग होता है[94]। सकल्पसूर्योदया नाटक में-

करण हरिण श्रेणीदूरापकर्षण दारूणाम्
कलुषतपनस्फायन्माया निदाघविजृम्भिताम्।
विषमविषयास्वादोत्कण्ठामयीं मृगतृष्णका
मुनिरतिपतन्मुक्ति द्वार गवेषयते मुहु ।। स0 सू0 9/10

उपर्युक्त श्लोक द्वारा विषयास्वादाभिलाष के लिए मृगतृष्णिका कहे जाने के कारण दोष का प्रख्यापन हुआ है। अत अपवाद नामक विमर्श सन्धि काअग कहा गया है।

विमर्श सन्धि का दूसरा अग सफेट है। रोष युक्त वाक्य अथवा बातचीत को सफेट कहा जाता है।[95] प्रस्तुत नाटक में इसके लिए -

अहित निवहवन्या हन्त सन्तन्माना
कथमियमपचेतु कल्पकोट्यापि शक्या।
लदहति निरवशेष देव सम्भूतिरेना
युगपदिह समिद्धौ योगकल्पान्त वह्नि ।।

स0सू09/18

यह श्लोक है जिससे विवेक के कथन- करोड़ों कल्पों में भी पाप से बढ़ती हुई कर्मविद्या कोदूर करना सम्भव नहीं है । इसे भगवत्कृपा से उत्पन्न योग कल्पान्त वह्नि ही निरवशेष भस्मसात् करती है के द्वारा रोष प्रकट होता है । इस कारण यहा पर सफेट

ामक सन्ध्यग है।

विमर्श सन्धि का तीसरा अग 'विद्रव' है। जहा पर बध या न्धन का वर्णन हो वहा विद्रव नामक सन्ध्यग होता है[96]। सकल्प ूर्योदय नाटक में काम, क्रोध, लोभ, मोह को जीत लेने के बाद ससार रूपी कारागार में पड़े पुरूष के द्वारा शरीर क्षीण किए जाने का जो र्णन किया गया है , उसमें विद्रव नामक सन्ध्यग है, क्योकि पुरूष कोससार नामक कारागार से बधे होने का स्पष्टउल्लेख हुआ है-

कामातकमतीत्य कोपदहन निर्वाप्य वित्तस्पृहा-

वेतालीं व्यवधूय बान्धवकथागर्त समुत्तीर्यच।

सङ्गोत्त्सितवासना सहचर ससारकाराकुटी-

निष्कक्रान्ति क्रमपादुका तनुमनुद्विग्नो मुनि क्षाम्यति।

स0 सू0 9/26

विमर्श सन्धि का चतुर्थ अग 'द्रव' है। जिसके विषय में कहा गया है कि - जिस जगह पर श्रेष्ट लोगों का तिरस्कार हो वहा द्रव नामक सन्ध्यग होता है[97]। द्रव को आचार्य भरतमुनि ने व्यतिक्रम कहा है।[98] तत्त्वज्ञानादि हो जाने पर भी पुरुषमें विद्यमान सूक्ष्म वासना दूसरों से अपमानित होने पर समाधि को चचल बनादेती है।

तत्वाज्ञाने विशुद्धे शमयति दुरितारम्भमात्मा वधाने

व्यक्ताकृष्टेतराक्षे विरमति चमनोवानरे चापलात्स्वात्।

भस्मच्छत्राग्निकल्प परपरिभवनाद्यागमे दीप्यमान

श्लक्ष्ण ससार सारस्तर लपतिशनैरूज्जिहान समधिम्।।

स0 सू0 9/13

सकल्प सूर्योदय नाटक के इस अश में 'द्रव' नामक सन्ध्यग है।

क्योंकि यहा पर विद्वान् के परिभव का कथन हुआ है।

विमर्श सन्धि का पचम अग 'शक्ति' है। विरोध का शान्त हो जाना 'शक्ति' है[99]।

सकल्पसूर्योदय नाटक में विष्णु भगवान पर अपनी रक्षा का भार रखकर यह पुरूष मुक्त के समान शास्त्र मार्ग का अनुसरण करता है–

मुकुन्दे निक्षिप्य स्वभरमनद्यो मुक्तवदसो
स्वतत्रताज्ञासिद्धा स्वयमविदित स्वामिहृदय
परित्यागे सद्य स्वपर विविधानर्थ जननाद्
लघयमामोक्षादनुसरति शास्त्रीय सरणिम।।

स0 सू0 9/20

इस श्लोक के द्वारा पुरूषके सभी विरोधों का शान्त होना प्रदर्शित किया गया है । यहा पर शक्ति नामक सन्ध्यग है।

विमर्श सधि का षष्ट अग 'द्युति' है। धमकी उद्वेग अथवा तिरस्कार से युक्त वाक्य द्युति कहलाता है।[100] प्रस्तुत नाटक में भूयोभूय स्व चक्रे भ्रमयति नृपशु गाढ़बन्धो परूद्ध, इत्यादि से काल द्वारा जीव के उद्वेजन की प्रतीति होती है। अत द्युति नामक सन्ध्यग है।

'प्रसग'विमर्श सन्धि का सप्तम अग है। नाट्य शास्त्रकार ने कहा है कि – जहा श्रेष्ठ जनों का सकीर्तन होता है उसे प्रसग कहते हैं[101]। सकल्प सूर्योदय नाटक में ' नून नारदेन भगवत् भवितव्यम्। न ह्यन्यस्य कस्यचित् आम्रेडित श्वेतद्वीपदेवता द्वैतमेतादृश तेज '[102] इत्यादि के द्वारा देवर्षि नारद के गुणों का परिकीर्तन हुआ है। अत यहा प्रसग सन्ध्यग है'।

विमर्श सन्धि का अष्टम अग 'छलन' या छल है। दशरूपकार ने लिखा है किजहा किसी की अवज्ञा या अपमान किया जाता है वहा छलन होता है[103]। नाट्य शास्त्र कार ने इसी को छादन[104] की सज्ञा दी है। प्रस्तुत नाटक में पुरुष द्वारा कालयापन पर क्षुद्र मन्त्रों से मन हटाकर भगवान् मन्त्रों से सन्तोष प्राप्ति के वर्णन द्वारा क्षुद्रफल प्रद मन्त्रों के प्रति अवज्ञा प्रकट की गई है, अत यहा छलन नामक सन्ध्यग है।

प्रत्यक्तत्त्व सतत्त्ववेदनसुखप्रत्यूह सिद्धिप्रदै

क्षुद्रै केवलकालयापन परैन्यैरनाकृष्टघी ।

मुक्तिद्वारक वारिकाविघटनध्वनिप्रति श्रन्निमै-

रध्यक्षीकृत सत्त्वथैर्मुनिरसौ मत्रैर्घृतिम् विन्दति

स0 सू0 9/25

'व्यवसाय ' विमर्श सन्धि का नवम अग है। धनजय ने इसका लक्षण किया है। जहा पर शक्ति अथवा सामर्थ्य का कथन है वहा व्यवसाय नामक सन्ध्यग होता है[105]।

सकल्प सूर्योदय नाटक में-

पृथुक तरूणप्रायावस्थाव्यवस्थित सचया

बहुल निगमप्रत्या दृष्टा बहिर्मुख वासना।

पटुतरदृढ़प्रत्याहार क्रियापरि पवित्रमा

ज्वलतिमहति ज्योतिष्यन्तर्लय प्रतिपत्स्यते।।

स0सू09/24

आदि से प्रत्याहार सामर्थ्य कथन द्वारा व्यवसाय नामक सध्यग कहा गया है।

'विरोधन' विमर्श सधि का दशम अग है। जहा पर सरम्भोक्ति

होती है वहा विरोधन नामक विमर्श सध्यग होता है।[106]
सकल्पसूर्योदय नाटक में

सिद्धप्रायसमीहितस्य वितथोदर्के वितर्क पुन
स्थूलाम्यूहवि सस्थूल स्थितिमतामत्के चमत्कारिण

दूरी कृत्य बलात्वया रिपुचमूदुर्वीर दवीर्करान्
किचिन्यूनमनोरथेन कृतिना कि नाम सचिन्त्यते।।

स0सू0 9/28

इसके द्वारा सरम्भ की प्रतीति होने के कारण 'विरोधन' सन्ध्यग प्रस्तुत किया गया है।

विमर्श सन्धि का ग्यारहवा अग 'प्ररोचना' है। दशरूपक में इसके लक्षण में कहा गया है- जहा पर सिद्ध प्राय भावी घटना की सूचना दी जाय वहा प्ररोचना नामक सन्ध्यग होता है[107]। नाट्य शास्त्र में इसे सहृयमाण अर्थ को प्रकट करने वाली कहा गया है[108]। प्रस्तुत नाटक में

स्वापोद्बोधव्यतिकरनिमे भोग मोक्षान्तराले
काल किचिज्जगति विधिना केनचित् स्थाप्यमाना।
तत्त्वोपाय प्रभृति विषये स्वामिदत्त्ता स्वनिष्ठा
शेषा कृत्वा शिरसिकृतिन शेषमायुर्नयन्ति।।

स0 सू0 9/27

इस श्लोक द्वारा भावीपुरुषार्थ दर्शन की दृढ़ता से सूचना मिलती है अत प्ररोचना है।

'विचलन' विमर्श सन्धि का बारहवा अग हैं। दशरूपक में धनजय ने इसके लक्षण में कहा है कि गुणों के आविष्करण या

आत्मश्लाघा को विचलन कहते हैं[109]। प्रस्तुत नाटक में आत्मश्लाघा तो नहीं की गई, किन्तु व्यवासाय द्वारा पुरुष के गुणों का आविष्करण निम्नलिखित श्लोक में किया गया है इस कारण यहा विचलन सन्ध्यग है -

त्रृणक्षोद क्षेप्तु प्रलयपवनों न प्रभवति-

क्षमस्तन्निर्दग्धु यदनर्भिमतौ कालदहन ।

तदर्वाच सर्वानजहदवधिद्वन्द्वनियमान्

विदन्नासौ तृप्यत्त्यथ च न विषादे निपतति।।

स0 सू0 9/47

'आदान' नामक सन्ध्यग विमर्श सन्धि का तेरहवा और अन्तिम अग हैं । दशरूपककार धनजय ने आदान के विषय में वर्णन करते हुए लिखा है कि जहा रूपक की वस्तु के कार्य को सग्रहित किया जाता है अर्थात् समेटने की चेष्टा की जाती है वहा आदान सन्ध्यग होता है[110]।

सकल्प सूर्योदय नाटक में -

षडगमथवाष्टाग समाधिमधिरोक्ष्यत ।

अवलम्बनमक्षुद्र्र दयैका दानवद्रुह ।।

स0 सू0 9/44

इत्यादि विवेक के कथन द्वारा विष्णु की दया ही अवलम्बन है कहकर कार्य को सग्रहित किया जाता है अत आदान नामक सन्ध्यग है।

इस तरह विमर्श सन्धि का सागोपाग वर्णनप्रस्तुत किया गया है।

रूपक की कथावस्तु के बीज से युक्त मुख आदि अर्थ जो अनेक रूपों में विखरे रहते हैं। उन्हें जब एकत्रित किया जाता है तब निर्वहरण सन्धि होती है[111]। इसमें कार्य अर्थ प्रकृति और फलागम नामक कार्य अवस्था का सम्बन्ध स्थापित कियाजाता है । जब आधिकारिक वस्तु का अच्छी तरह प्रयोग किया जाता है। तो तदर्थ किये गये प्रयास को कार्य अर्थ प्रकृति कहते हैं[112]।

फलागाम अवस्था वहा होती है जब इतिवृत में समग्र अभिप्रेत वस्तु के अनुरूप कार्य का फल प्राप्त होता है[113]। यहा पर बैकुण्ड दास्यादि परभक्ति व्यापार के द्वारा मुख सन्ध्यादि में आरब्ध नि श्रेयस रूप फल प्राप्ति के निर्वाह किये जाने के कारण भेदों के सहित निर्वहण सन्धि का निरूपण किया गया है। निर्वहरण सन्धि के चौदह अग होते है। सन्धि, निरोध, ग्रथन निर्णय,परिभाषण, प्रसाद, आनन्द,समय,कृति, भाषा,उपगूहन,पूर्वभाव, उपसहार और प्रशस्ति[114]।

सकल्प सूर्योदय नाटक के दशम अक में अग सहित निर्वहणसन्धि का वर्णन हुआ है। इसलिए उसके प्रत्येक अग पर अलग-अलग विचार करना आवश्यक है।

निर्वहरण सन्धि का प्रथम अग 'सन्धि' है। जब मुख सन्धि में वर्णित बीज की उद्‌भावना की जाती है तो वह सन्धि नामक निर्वहरण का अग होता है[115]। इस नाटक में विष्णु भक्ति के कथन- यदि मुझमें दृढ़ निष्ठा है तो पुरूष को मुक्त होने के लिए क्या कहना है-

निरूध्य तरसा मरूत्करणमण्डलीं कुण्डलीं

विचिन्त्य विगणय्यवा धमनिधातुमर्मादिकम्।

किमत्र निगमत्रयस्थितिमतापि लालभ्यते

मयि स्थितिरवस्थिता यदि किमुच्यते मुच्यते।।

स0 सू0 10/3

इस श्लोक के द्वारा पुरुषमोचन रूप बीज के उपागम(उदभावना) का कथन होने के कारण 'सन्धि' नामक अग है।

निर्वहण सन्धि का दूसरा अग 'निरोध' है। आचार्य भरत मुनि के अनुसार जब छिपे हुए कार्य की युक्ति पूर्वक खोज की जाती है तोउसे निरोध कहते है[116]। इसी को आचार्य धनजय ने 'विबोध' कहा है[117]। प्रस्तुत नाटक में नष्ट ज्ञान पुरुष के सभी पापों को विष्णुविषयक समाधि तत्काल समाप्त कर देती है। उसके पश्चात समाधि अनुष्ठान फल का साधन है या फल है यह वितर्क व्यर्थ है–

मुमुक्षुत्वे सिद्ध मुषितमतिमोहस्य मुरभि–

त्समाधि सरोहन्नुपहरति सर्वाघविरतिम् ।

परस्तादास्थेय यदिह विदुषानिष्टजनुषा

फलार्थ तत्किवा फलमिति वितर्क श्रमफल ।।

स0सू010/4

इस श्लोक द्वारा वितर्क से बीज रूप कार्यान्वेषण की प्रतीति होने से निरोध सन्ध्यग कहा गया है।

निर्वहण सन्धि का तीसरा अग 'ग्रथन' है । समस्त कार्यो का एक स्थान पर उपसहार (उपक्षेप) ग्रथन कहलाता है[118]। प्रस्तुत नाटक में हेयप्रत्यनिक कल्याणगुणैकतानरत्न राशि से पूर्ण चिदानन्द स्वरूप ब्रह्मसागर में पुन अन्यत्र (ससार) मज्जन (जन्म) न करने के लिए गोता लगाता है।

स्वत सिद्धस्वच्छस्थिरमधुरचिन्तासुरसरि-

त्प्रवाहोपश्लिष्टात्प्रणिधिमुखभागादवतरन्।

चिदानन्दोदन्वत्यनधगुणरत्नौधभरिते

निमज्जत्यन्यस्मिन्नयमपुनरुन्मज्जनमिह।। स0सू0 10/9

इस कथन द्वारा निमज्जति (डुबकी लगाना)से पूर्वोक्त कार्यका एक स्थान पर स्थापन हुआ है। अत यहा ग्रथन नामक निर्वहरण सन्धि का अग है।

निर्वहरण सन्धि का चतुर्थ अग 'निर्णय' है। नाट्यशास्त्र कार ने इसके विषय में लिखा है कि जब अनुभूत अर्थ का वर्णन किराजाता है तब निर्णय 'सन्ध्यग' होता है[119]। प्रस्तुत नाटक में-

त्रिभुवनमिद शान्तक्षोभ समाधिरनाकुल

प्रसृमरसुधाधाराकार प्रसीदति शेमुषी।

स्फुरति चमुहुर्दृष्टि सव्या तदप्युपरिस्फुट

तदिह महतीं सिद्धि मन्ये झटित्युपतस्थुषीम।।

स0 सू0 10/11

इस श्लोक द्वारा यह बताया गया है कि त्रिभुवन उपद्रव रहित हो गया है। समाधि में आकुलता नहीं है इत्यादि अनुभूत अर्थो के कथन द्वारा समुस्थित नै श्रेयसी सिद्धि सूचित की गई है । इस कारण प्रस्तुत श्लोक में निर्णय नामक विमर्श सन्धि का अग हैं।

परिभाषण निर्वहरण सन्धि का पचम अग है। दशरूपक कार ने इसका लक्षण किया है कि आपस की बात चीत को परिभाषा या परिभाषण कहा जाता है[120]। अर्थात् जब एक साथ कई कार्यो का या कई पात्रों द्वारा कथन होता है तो वह परिभाषण हैं । प्रस्तुत नाटक में श्रीनिवास भगवान् की अनुकम्पा से ही देवो को पद, राजाओं को

भोग, आश्रितों को वैराग्य तथा मोक्ष प्रदान काएक साथ वर्णन हुआ है। इस कारण यहा परिभाषण नामक सन्ध्यग है।

त्वद्दृष्ट्या सकृदीक्षिता दिविषद स्व स्व पद भुजते

भोगानत्र च भूभुजामभिमतान् पुष्णासि तृष्णाधिकम्।

किचोदचदनुग्रहा कृपणतामालक्ष्य वैलक्ष्यतो।

नैराश्यप्रमुखानि सौति भवती निर्वाणपर्वाण्यपि।।

स0 सू0 10/15

निर्वहण सन्धि का षष्ठ अग प्रसाद है। धनजय के अनुसार अराधना (पर्युपासन प्रसन्न करने का प्रयास) ही प्रसाद कहलाता है[121]। अर्थात् जहा किसी का पर्युपासन वर्णित होता है उसे प्रसाद नामक सन्ध यग कहते है। सकल्पसूर्योदय नाटक में गरुड औरसुदर्शन को शास्त्रप्रसिद्ध वाहन और सकल्प बताकर अहो न खुल विश्व प्रकाशा दिशों विदिशश्च। तदासीदतीव देवस्य दयाबल्लभस्य सकल्प के द्वारा सकल्प का पर्युपासन किया गया है। इस कारण यहा प्रसाद नामक सन्ध्यग है। प्रस्तुत श्लोक में वर्णन है-

व्यक्तौ सनाहसकल्पौ विश्वगोप्तुरिमौ हरे

प्रथितावागमग्रामे पक्षीश्वरसुदर्शनौ।।

स0 सू 10/19

निर्वहण सन्धि का सप्तम अग आनन्द है। धनजय ने आनन्द के लक्षण में कहा है कि अभीष्ट की प्राप्ति होना आनन्द है[122]। नाट्यशास्त्रकार ने कहा है कि अभीप्सित अर्थ (वस्तु) के आगमन को आनन्द कहते हैं[123]। प्रस्तुत नाटक में निम्नलिखित श्लोक द्वारा निरूपित हुआ है।

प्रकृत क्रियया धिया च योग परमैकान्त्यपरिष्कृतस्य पुस ।

निधिदर्शन वन्निरूढ़हर्ष प्रणिधते विशद परप्रकाशम्।।

स सू 10/28

इसके द्वारा निधि दर्शनवत् से इष्टार्थ प्राप्ति की प्रतीति होने के कारण आनन्द नामक सन्ध्यग है।

'समय' निर्वहण सन्धिका अष्टम अग है दशरूपककार ने इसके लक्षण में कहा है कि दु ख का दूर हो जाना ही समय कहलाता हैं[124]। भरत मुनि के अनुसार दु ख के समाप्त हो जाने को समय कहते हैं[125]। सकल्प सूर्योदय में तदसौ झटिति निस्त्रुटित निगल युगलस्त्वया विधातव्य [126]

इत्यादि में निस्त्रुटित से दु ख निवृति की प्रतीति होने के कारण समय नामक निर्वहण सन्धि का अग प्रस्तुत किया गया है।

कृति निर्वहण सन्धि का नवम अग है। दशरूपककार के अनुसार लब्ध अर्थ का शमन (शान्ति या स्थिरीकरण) कृति कहलाता है[127]। नाट्य शास्त्रकार ने इसको द्युति कहा हैं।[128] यहा शमन का अर्थ स्थिरीकरण से है। सकल्प सूर्योदय नाटक में श्रद्धा के कथन अथवा पर वा मोक्षो भविष्यतीति विस्रब्धहृदयेन भवितव्यम् के द्वारा मोक्ष प्राप्ति का निश्चय बताकर उपलब्ध अर्थ का स्थिरीकरण कर दिया गया है। इसकारण यहा कृति नामक निर्वहण सन्धि का अग वर्णित है।

निर्वहण सन्धि का दशम अग 'भाषण' है । धनजय के अनुसार मान आदि की प्राप्ति भाषण कहलाती है[129]। इसे ही नाट्य शास्त्रकार ने साम दामादि से सम्पन्न होना कहा है[130]। प्रस्तुत नाटक में स्वसेवा सर्वभौमत्व भवते परमात्मना। विवेकस्य च वीरस्य यौवराज्य प्रदित्सितम्[131]। के द्वारा पुरूष और विवेक के बहुमान की प्रतीति होती है अत भाषण सन्ध्यग है।

निर्वहण सधि का ग्यारहवा अग 'उपगूहन' है। आश्चर्य जनक वस्तु की प्राप्ति को उपगूहन कहते है[132]। प्रस्तुत नाटक सकल्प सूर्योदय में धनाभिलाषादि के समाप्त हो जाने के कारण दूसरे के गुणों को ग्रहण करने का इच्छुक कोई नहीं दीखता है–

गतद्रविणदोहद गलितमाननागौरव

यशस्यनभिसधिक यमिनमप्यनुद्‌गृह्णति।

तिरस्करणकौतुक ग्रहगृहीतचित्ते जने

गुणग्रहणलालसो न खलु कश्चिदालक्ष्यते।।स सू 10/79

इत्यादि के द्वारा अद्‌भुत सन्तोषरूपी वस्तु प्राप्ति का वर्णन होने के कारण यहा उपगूहन नामक सन्ध्यग है।

निर्वहण सन्धि का बारहवा अग 'पूर्वभाव' है। इसका दूसरा नाम पूर्ववाक्य भी है। यथोक्त कार्य का दर्शन पूर्वभाव कहा जाता है[133]। प्रस्तुत नाटक में–

कुल्यत्वेन परिग्रहेऽपि कुटिलप्रस्थानभागिष्वसौ

कूटस्थप्रतिकूलवृत्तिषु कृपादाक्षिण्यलेशोज्झित ।

कामादे स्वयमौर्ध्वदैहिकविधि कृत्वा यथार्ह कृती

द्रष्टुत्वा त्रुटितस्वकर्मनिगल प्राप्तौ विवेक प्रभु ।।

स सू 10/80

इत्यादि अपने कर्मपाश को तोड़ने वाले पुरूष को देखने के लिए महाराज विवेक आये है के द्वारा इष्ट कार्य दर्शन प्रतीत होता है अत पूर्वभाव नामक सन्ध्यग है।

'काव्यसहार' निर्वहण सन्धि का तेरहवा अग है। वर प्राप्ति को काव्य सहार कहते है[134]। इसमें काव्यार्थ का सहरण होता है इसलिए भी इसे काव्य सहार कहते है। प्रस्तुत नाटक में –

कि तत्प्रिय परमत प्रतिपादनीय

पद्मासहायपदपद्मजुषा भवत्या।

पश्यामि यत्पुरूषमेवमपास्तपक

राकाशशाकमिव राहुमुखाद्विमुक्तम्।। स सू 10/95

के द्वारा कार्य का सहरण किये जाने के कारण काव्य सहार नामक सन्ध्यग निरूपित हुआ है।

निर्वहण सन्धि का चौदहवा अग 'प्रशस्ति' है। दशरूपककार धनजय ने इसका लक्षण किया है शुभ (अर्थ) का कथन ही प्रशस्ति कहलाता है[135]। प्रस्तुत नाटक में –

अगीकुर्वन्त्वकलुषधियो नित्य मध्यात्म विद्या–

माद्यौ धर्म स्पृशतु वसुधामाशिष पारवर्ती।

देव श्रीमन्निरवधिदयासिन्धुरस्मिन्प्रबन्धे

वक्ता श्रोतावचनविषय प्रीयता वासुदेव ।।

स सू 10/97

के द्वारा अध्यात्मविद्या परिपालन निवृति धर्म वर्धन एव भगवत् प्रीणन की कामना की गई है अत प्रशस्ति नामक निर्वहण सन्धि का अग है।

इस प्रकार कथावस्तु का अर्थप्रकृति, अवस्था तथा सन्धि के रूप में विभाजन करके 64 सन्ध्यगो के प्रयोग द्वारा इसका वर्णन किया गया। इसके अलावा कथावस्तु को दो भागों में बाटा जाता है[136]। कुछ वस्तु तो सूच्य तथा दूसरी दृश्य और श्रव्य। उनमें वस्तु का जो भाग नीरस या जिन्हें रग मच पर नहीं दिखाया जा सकता उन्हें 'सूच्य' कहा जाता है। किन्तु जो वस्तु का भाग चित्ताकर्षक, उदात्त रस एव भाव से पूर्ण होते है उन्हे रगमच पर दिखाया जा सकता है इस कारण

दृश्य कहा जाता है[137]।

(ख) <u>अर्थोपक्षेपक तथा नाट्य विषयक अन्य पात्र</u> -

सूच्य वस्तु का प्रतिपादन करने के लिए अर्थोपक्षेपकों का प्रयोग किया जाता है। इसके विषय में दशरूपकार ने कहा कि (1) विष्कम्भक (2) चूलिका (3) अड्कास्य (4) अड्कावतार (5) प्रवेशक इन पाँच अर्थोपक्षेपकों (इतिवृत के सूचकों) के द्वारा सूच्य वस्तु का प्रतिपादन करना चाहिए[138]। इस कारण प्रस्तुत नाटक में प्रयुक्त इन अर्थोपक्षेपकों पर विचार कर लेना उचित होगा।

अब इन अर्थक्षेपकों में प्रसिद्ध विष्कम्भक के विषय में दशरूपककार ने इसका लक्षण दिया है बीते हुए और आगे होने वाले कथा-भागो का सूचक, सक्षिप्त अर्थवाला तथा मध्यम पात्रों द्वारा प्रयुक्त जो अर्थोपक्षेपक है, वह विष्कम्भक कहलाता है[139] अर्थात् भूत और भविष्य के कथाशों का सूचक एक या दो मध्यम पात्रों द्वारा प्रयुक्त विष्कम्मक होता है। इसके दो भेद होते है (1) शुद्ध विष्कम्भक (2) सकीर्ण विष्कम्भक। एक या अनेक मध्यम पात्रों द्वारा प्रयुक्त विष्कम्भक शुद्ध कहलाता है। और माध्यम तथा अधम पात्रों द्वारा मिलकर प्रयोजित विष्कम्भक सकीर्ण कहलाता है[140]।

सकल्प सूर्योदय नाटक में पाच बार विष्कम्भक का प्रयोग हुआ है। तीन बार शुद्ध विष्कम्भक है और दो बार सकीर्ण या मिश्र विष्कम्भक सर्वप्रथम सकीर्ण विष्कम्भक का प्रयोग प्रथम अक के आदि में प्रस्तावना के अनन्तर किया गया है। यह विस्तृत विष्कम्भक हैं क्योंकि इसमें 33 श्लोकों तथा अनेक गद्य खण्डों का प्रयोग हुआ है। इसमें काम, बसन्त, तथा रति के वार्तालाप द्वारा कथाशों की सूचना

दी गई है। वे विवेक और महामोह के स्वाभाविक वैर का वर्णन करते हुए अपने को मोहपक्ष का बताते है। काम स्त्रियों से विवेक को जीतने की युक्ति बताता है। अन्त में विवेक के आगमन की सूचना देकर वे सब निकल जाते है।

इसके पश्चात् तृतीयाक के शरू में शुद्ध विष्कम्भक का प्रयोग हुआ हैं। इसमें राग और द्वेष दो पात्रों का वार्तालाप है। राग स्त्रियों से विवेक की विजय बताता है। द्वेष अपने रहते हुए विवेक की सफलता को असभव बताता है। अन्त में स्त्री विलास, कामकोकिल और मोहश्री की निन्दा करते हुए वे विवेक के विजय की सूचना देते हुए निकल जाते हैं।

षष्ठ अक के आदि में कचुकी द्वारा शुद्ध विष्कम्भक प्रयुक्त किया गया है। वह अपनी अवस्था का वर्णन करते हुए राजसेवा की निन्दा करता है। पुन विवेक के आगमन की सूचना देकर निकल जाता है।

सप्तम अक के आदि में एक पात्र सस्कार के कथन से शुद्ध विष्कम्भक का प्रयोग किया गया है। सस्कार अपना परिचय देता है वह विवेक का शिल्पी है। व्यवसाय और सुमति के साथ विवेक के आने की सूचना देकर चला जाता है।

अष्टम अक के आदि में सकीर्ण या मिश्र विष्कम्भक का प्रयोग हुआ है। इसमें अभिनिवेश और दुर्वासना दो पात्र है। अभिनिवेश अपनी सामर्थ्य का वर्णन करते हुए अपने को लोभ को उत्साहित करने वाला उसका छोटा भाई बताता है। जुगुप्सा, ज्ञान्त्यादि के द्वारा काम, क्रोध इत्यादि के जीते जाने, नारद और तुम्बुरू के आगमन तथा महामोह द्वारा युद्ध की तैयारी की सूचना देकर वे चले जाते है।

इस प्रकार सकल्प सूर्योदय नाटक में विष्कम्भक का प्रयोग हुआ है। सभी अर्थोपक्षेपकों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विष्कम्भक ही है। इसके पश्चात् 'प्रवेशक' का स्थान आता है। प्रवेशक भी विष्कम्भक की तरह भूत एव भविष्य के कथाशों का सूचक है। नीच पात्रों द्वारा अनुदात्त उक्तियों से प्रयुक्त दो अको के बीच में स्थित तथा शेष (अप्रदर्शनीय) अर्थ का सूचक प्रवेशक कहलाता है[141]।

प्रस्तुत नाटक में द्वितीय अक के आदि में प्रवेशक का प्रयोग किया गया है। श्रद्धा और विचारणा अपने वार्तालाप में बताती है कि विवेक के शत्रु विजयोद्योग को सुनकर महामोह के द्वारा वाह्यदुर्वादी बुद्ध, जैन आदि पुरूष को प्रतारित करने के लिए भेजे गये हैं, सुमति के इस सन्देश को वह सेनापति व्यवसाय को बताने जा रही है। जो सत्य होता है, वहीं नित्य होता है जो मिथ्या होता है, वह समय आने पर झूठा साबित हो जाता है, कहकर श्रद्धा अकेले विवेक द्वारा प्रबल अनेक प्रतिपक्षियों के निर्मूलन की आशा व्यक्त करती है।

तीसरा अर्थोपक्षेपक 'चूलिका' है। यवनिका के भीतर स्थितपात्रों के द्वारा किसी अर्थ (बात) की सूचना देना चूलिका[142] कहलाता है। सकल्प सूर्योदय नाटक में नवम अक के आदि में चूलिका का प्रयोग हुआ है। दूर से पराक्रमशील विवेक के आने की सूचना दी जाती है इसके पश्चात् विवेक प्रवेश करता है, और नवम अक प्रारम्भ होता है।

अकास्य चतुर्थ अर्थोपक्षेपक है। अक के अन्त में आने वाले पात्रों के द्वारा (पूर्व अक से) असम्बद्ध (विच्छिन्न) अग्रिम अक के अर्थ की सूचना देने के कारण यह अकास्य कहलाता है[143]। सकल्प सूर्योदय नाटक के नवम अक में राजा (विवेक) –

इयमखिलपुमर्थ प्रार्थनाकल्पवल्ली

सितमतिभिरनन्यै सेविता सिद्धबृन्दै ।

द्युतिभिरबिरलाभिर्द्योतयन्ती दिगन्तान्

विशति सुमतिसौध विष्णुभक्तिर्विशुद्धम् ।।

स सू 1/52

इस श्लोक के द्वारा विष्णु भक्ति के प्रवेश की सूचना देता है। इसके पश्चात् दशम अक प्रारम्भ होता है और विष्णु भक्ति प्रवेश करती है। अत यहा अकास्य का प्रयोग किया गया है इसी प्रकार चतुर्थ अक के अन्त में काम की 'उक्ति' सद्य सम्प्रति दम्भदर्पकुहनासूयादि दत्तैक्षण त्यार्थिप्रतिरोध कर्मणि महामोह प्रवर्तिष्यते के द्वारा दम्भदर्पकुहनादि के साथ युद्ध में महामोह के प्रवृत्त होने की सूचना दी गई है। बाद में पचम अक के प्रारम्भ में दम्भ और कुहना प्रवेश करते हैं और दर्प, असूया तथा महामोह भी आते हैं।

इस प्रकार सकल्प सूर्योदय नाटक में केवल चार अर्थोपक्षेपकों का ही प्रयोग हुआ है। अकावतार का प्रयोग इसमें नहीं हुआ है। किसी भी नाटक के लिए यह जरूरी भी नहीं है कि सभी पाचो अर्थोपक्षेपकों का प्रयोग किया ही जाय।

नाट्य धर्म की दृष्टि से कथावस्तु को पुन तीन भागों में बतलाया गया है[144]। इन तीन भेदों को बतलाते हुए दशरूपककार ने कहा है कि (1) सबके ही सुनने योग्य 'सर्वश्राव्य' (2) नियत जनों के ही सुनने योग्य 'नियत श्राव्य' तथा (3) किसी के भी न सुनने योग्य अश्राव्य[145]। जो सर्वश्राव्य वस्तु है वह 'प्रकाश' (प्रकटरूप से) इस नाम से जानी जाती है किन्तु जो सबके लिए ही आश्राव्य होती है वह 'स्वगत' कहलाती है[146]। पुन नियतश्राव्य जनान्तिक और अपवारित के

भेद से दो प्रकार का होता है।[147] उनमें वह वार्तालाप के सन्दर्भ में जो त्रिपताक रूप हाथ (की मुद्रा) के द्वारा अन्यों को बचाकर बहुत से जनो के मध्य में दो पात्र आपस में बात करते है वह जनान्तिक है[148]। तथा जहा (किसी पात्र के द्वारा) मुह फेरकर दूसरे व्यक्ति से गुप्त बात (रहस्य) कही जाती है वह अपवारित (सवाद) कहलाता है[149]।

सकल्प सूर्योदय नाटक में सर्वश्राव्य और अश्राव्य का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है। अपवारित का प्रयोग केवल दो बार हुआ है एक बार तृतीय अक में विवेक के द्वारा दूसरी बार अष्टम अक में महामोह के द्वारा दोनो स्थलों पर दूतों द्वारा सन्देश कथन के समय ही अपवारित प्रयुक्त हुआ है। प्रस्तुत नाटक में जनान्तिक का प्रयोग नही हुआ है। ऐसा मालूम पड़ता है कि वेदान्त देशिक के काल तक सस्कृत नाटकों का प्रचार प्रसार कम हो गया रहा होगा। जनता 'त्रिपताकाकार' आदि सकेतों को नहीं समझती रही होगी। इस कारण उसका प्रयोग सर्वजनवेद्यदुष्करता के कारण नहीं किया गया, या कहीं आवश्यकता ही न पड़ी हो, यह आवश्यक भी नहीं है कि नाटक में जनान्तिक का प्रयोग किया ही जाय।

नाट्य धर्म के प्रसग में ही 'आकाशभाषित' पर भी विचार कर लेना चाहिए। जहा कोई पात्र दूसरे पात्र के बिना तथा किसी के बिना कहे भी मानों सुनकर ही क्या कहते हो? इस प्रकार कहता है वह आकाश भाषित है[150]। सकल्प सूर्योदय नाटक में छ बार आकाश भाषित का प्रयोग हुआ है। सर्वप्रथम द्वितीय अक में शिष्य द्वारा, फिर तृतीय अक में राग द्वारा आकशभाषित का प्रयोग किया गया है। दो बार दर्प, एक बार असूया और एक बार महामोह के द्वारा पचम अक में आकाशभाषित का प्रयोग किया गया है।

पात्रों की दृष्टि से यह नाटक एक चरित्र कोष नाटक सा लगता है। इतने अधिक पात्रों को यद्यपि सोद्देश्य रखा गया है। फिर भी इससे नाटक की सघटनशीलता में बहुत बड़ी क्षति पहुँची है। दरअसल इस नाटक को नाटककार ने एक चुनौती के रूप में लिखा है। 'प्रबोधचन्द्रोदय' के प्रसिद्ध प्रणेता श्रीकृष्णमिश्र जी से यह चुनौती प्राप्त हुई थी इसलिए नाटक के प्राय तत्वों मे नाटककार के उन्मादपूर्ण दृष्टिकोण का प्रदर्शन लक्षित किया जा सकता है। पात्रों के सम्बन्ध में भी यह बात अपवाद नहीं है।

इस नाटक में आए हुए पात्रों की निम्नलिखित श्रेणिया निर्णीत की जा सकती है–

1 अमूर्त पात्र – (विवेक, सुमति, महामोह, दुर्मति आदि)

2 प्ररूप पात्र – (गुरू, वाद, देवार्षि आदि)

3 साधारण पात्र – (विदूषक, नटी आदि)

उपर्युक्त समस्त चरित्रों के रूपाड् कन में नाटककार ने बहुत ही स्वस्थ मनोवृति का परिचय दिया है। यह नाटककार की महत्वपूर्ण विशेषता कही जाएगी कि उसने इतने विविध चरित्रों को उनकी अलग-अलग रूप-रेखा के साथ चित्रित कर दिया है। चाहे विवेक हो, या महामोह, सुमति हो या दुर्मति हर एक अपनी एक अलग प्रतिभा बनाती चली जाती हैं। यही नहीं वरन् वर्ग विशेष से सम्बन्धित प्ररूप चरित्रों में गरू (रामानुजाचार्य), शिष्य (वेदान्तदेशिक), देवार्षि (नारद, तुम्बरू आदि) भी कम सफल चरित्र नहीं है। अपने-अपने वर्ग के सिद्धान्त प्रतिपादन में इन सबों ने बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। दरअसल विभिन्न वर्गगत चरित्रों द्वारा जो तार्किक सघर्ष कराया गया है वह नाटक को एक विशेष महत्त्व की श्रेणी में पहुँचा

देता है। गुरू (रामानुजाचार्य) से शिष्य रूप में स्वय नाटककार का तार्किक विवाद सैद्धान्तिक महत्त्व का तो है ही साथ ही साथ उच्च बौद्धिकों के लिए एक अच्छा- खासा मनोरज का विषय भी बन जाता है। सामान्य चरित्रों में (नटी, विदूषक, सूत्रधार) भी नाटककार की यह चरित्र चित्रण की विशेषता आसानी से लक्षित की जा सकती है और फिर सूत्रधार नटी जैसे पात्र इन चरित्रों के प्राण ही बन गये हैं। नाटक के प्रारम्भ में सबसे पहले उपस्थित होना, फिर हमेशा के लिए गुप्त हो जाना यह बाध्यता होते हुए भी सूत्रधार और नटी दर्शकों की स्मृति से हटाए नहीं जा सकते- इनसे दर्शक ऊब भले ही जायें, लेकिन इन्हें भूल नहीं सकते। ऊबा देना नाटककार के कथा शैथिल्य का प्रमाण है और भूल नही सकना चरित्रों की तलस्पर्शी अभिव्यक्ति की पहचान।

प्रतीक नाटकों के विकास में 'सकल्पसूर्योदय' पात्रों की दृष्टि से कोई बहुत प्रगतिशील नहीं लगता। कुछ एक मौलिक चरित्रों की उद्‌भावना की बात छोड़ दी जाय तो प्राय अधिकाश चरित्र अपने पूर्ववर्ती प्रतीक नाटकों के पात्रो की ही पुनरावृति मात्र है। प्रबोधचन्द्रोदय से तो इसके चरित्रों का अद्‌भुत साम्य दीख पड़ता है। विवेक हो या मोहराज, सुमति हो या मति, दुर्मति या मित्थ्‌यादृष्टि, काम हो या रति थोडे बहुत सशोधन के साथ एक ही भावधारा की अभिव्यक्ति लगते हैं। चनौति के जवाब रूप में लिखें जाने के बावजूद भी सकल्पसूर्योदय पात्रों की दृष्टि से प्रतीक नाटकों की सीमा को कोई बहुत दूर नहीं बढ़ा पाता। हा आगे बढ़ने की गतिशील होने की प्रक्रिया और सम्भावित उपलब्धियों की ओर सकेत के अर्थ में ग्रहण किया जा सकता इसी अर्थ में इसे ग्रहण किया जाना चाहिए।

उद्धरणानुक्रमणिका

1 लक्षण समृद्धिरनधा रसपरिपोषश्च सहृदय ग्राह्य ।
सपतति नाटकेऽस्मिन स एषशैल्य सुकृत परिपाक ।। स0सू0 1/21
2 अवस्था पचकार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभि ।
आरम्य यत्न प्राप्त्याशा नियताप्ति फलागम ।। दशरूपक 1/19
3 बीजबिन्दु पताकाख्य प्रकरी कार्यमेव च। अर्थप्रकृतय पच ता एता परिकीर्तिता ।। द0रू0 1/18
4 अर्थप्रकृतय पच पचावस्था समन्विता । यथासख्येन जायन्त मुखाधा पचसन्धय ।। द0रू0 1/22
5 मुख प्रतिमुख गर्भ सावमर्शापसहृति । मुख बीज समुत्पत्तिर्नानारसम्भवा।। द0रू0 1/24
6 अन्तरेकार्य सम्बन्ध सन्धिरेकान्वये सति। द0रू0 1/23
7 अगानि द्वादशेतस्य बीजारम्भ समन्वयात्। उपक्षेप परिकर परिन्यासो विलोभनम्।।
उक्ति प्राप्ति समाधान विधान परिभावना। उद्भेद करणान्यन्वर्थानि।। द0रू0 1/25–26
8 स0सू0 पृ 131
9 स्वल्पमात्र समुत्सृष्ट बहुधा यद्विसर्वाति। फलावसान यच्चैव बीज तत्परिकीर्तितम् । नाटयशास्त्र 19/22
10 स0सू0 1/65
11 काव्यार्थस्य समुत्पत्तिरूपक्षेपइति स्मृत । नाटय शास्त्र 19/69
12 यदुत्पन्नार्थ बाहुल्यज्ञेय परिकस्तु स । ना0शा0 19/70
13 तन्निष्पति परिन्यासो विज्ञेय कविभि सदा । ना0शा0 19/70
14 गुणर्निवर्णन चैव विलोभनमितिस्मृतम्। ना0शा0 19/71
15 सम्प्रधारणमर्थाना युक्तिरित्यभिधीयते। ना0शा0 19/71
16 सुखार्थस्याभिगमन प्राप्तिरित्यभिनज्ञिता। ना0शा0 19/72
17 बीजार्थस्योपगमन समाधानमितिस्मृतम्। ना0शा0 19/72
18 सुखदु खकृतो योऽर्थस्तद्विधानमिति स्मृतम् । ना0शा0 19/73
19 कुतूहलात्तरावेगो विज्ञया परिभावना । ना0शा0 19/73
20 बीजार्थस्य प्ररोहा य स उद्भेद इतिस्मृत । ना0शा0 19/74
21 स0सू0 पृ0 183
22 सघातभेदनार्थो य स भेद इति कीर्तित । ना0शा0 19/75
23 प्रकृतार्थ समारम्भ करण नाम तद्भवेत्। ना0शा0 19/74
24 अपश्यत फलप्राप्ति व्यापारो य फलप्रति। पर चौत्सुक्यगमन स प्रयत्न प्रकीर्तित ।। भ0ना0 19/10
25 प्रयोजनाना विच्छेदे यदविच्छेद कारणम्। यावत्समाप्तिर्बन्धस्य सविन्दु परिकीर्तित ।। भ0ना0 19/23
26 बीजस्योद्धारन यत्र दुष्टनष्टभिवकवचित्। मुखन्यस्तस्य सर्वत्र तद्वै प्रतिमुख भवेत्।। भ0ना0 19/40
27 विलास परिसर्पश्च विधूत तापन तथा। नर्म नर्मधुतिश्चैव तथा प्रगयण पु ।।
निरोधश्चैव विज्ञेय पर्युपासममेवच। पुष्प वज्रमुपन्यासो वर्णसहार एव च।। भ0ना0 19/59 60
28 स0सू0 पृ0 207
29 स0सू0 पृ0 207
30 स0सू0 पृ0 207
31 दृष्टार्थ विषयामी हा विलास परिक्षते इति।
समीहा रति भोगार्था विलास इति सत । इसमें रति भोग उपलक्षण है। इति ना0शा0 19/76
32 स0सू0 पृ0 2/9
33 स0सू0 पृ0 219
34 दृष्टनष्टानुसरण परिसर्पइति स्मृत इति ना0शा0 19/76
35 कृतस्पानुनयस्यायौ विधूत हि परिग्रह इति ना0शा0 19/77
36 विधूत स्यादरति । दशरूपकम 1/33
37 स0सू0 पृ0 224
38 स0सू0 पृ0 225
39 अपायदर्शन यतु तापन नाम तद्भवेत ना0शा0 19/77
40 तच्छन शम द0रू0 1/33
41 स0सू0 पृ0 249
42 क्रीडार्थ विहित यतु हास्य नर्मेतितत्स्मृतम् । ना0शा0 19/78
43 परिहासवचो नर्म द0रू0 1/33
44 स0सू0 पृ0 272 73
45 दोष प्रच्छादनार्थ तु हास्य नर्मधुति स्मृता। ना0शा0 19/78
46 उत्तरोत्तर वाक्य तु भवेत प्रगयण पुन । ना0शा0 19/79
47 स0सू0 पृ0 275
48 यातु व्यसनसम्प्राप्ति स निरोध प्रकीर्तित । ना0शा0 19/79
49 क्रुद्धस्यानुनयो यस्तु भवेत्पर्युपासनम् । ना0शा0 19/80

50 स0सू0 पृ0 290
51 स0सू0 पृ0 309
52 विशेषवचन यतु तत्पुष्पमितिसज्ञितम् । ना0शा0 19/80
53 स0सू0 पृ0 2/89
54 स0सू0 पृ0 2/93
55 प्रत्यक्षरूक्ष यद्वाक्य वज्र तदमिधीयते । ना0शा0 19/81
56 उपपत्तिकृता याऽर्थ उपन्यासश्च स स्मृत । ना0शा0 19/81
57 चातुर्वर्ण्योपगमन वर्णसहार इष्यते । ना0शा0 19/82
58 स0सू0 पृ 332
59 उद्भेदस्तस्य बीजस्य प्राप्तिरप्राप्तिरेव। पुनश्चान्वेषण यत्र स गर्भ इति सज्ञित ।। ना0शा0 19/41
60 यद्वृत तु परार्थ स्यात् प्रधानस्योपकारकम्। प्रधानवच्च कल्प्येत सा पताकेति कीर्तिता।। ना0शा0 19/24
61 ईषत्प्राप्तिर्यदा काचित्फलस्य परिकल्पते। भावमात्रेण त प्राहुर्विधिज्ञा प्राप्तिसम्भवम्।। ना0शा0 19/11
62 उपायापायशकाभ्या प्राप्त्याशा प्राप्तिसम्भव । द0रू0 1/21
63 अभूताहरण मार्गो रूपोदाहरणे क्रम । सग्रहश्चानुमान च प्रार्थनाक्षिप्तीमेव वा।
तोट काधिबले चैवहयुवद्वेगोविद्रवस्तथा।। ना0शा0 19/61 62
64 कपटापाश्रय वाक्यमभूताहरण विदु । भ0ना0 10/82
65 स0सू0 पृ0 396
66 स0सू0 पृ0 401
67 परमानन्द दायिन्य प्रजाना सृष्टिहेतव। ब्रह्मलक्षण लक्षण्या न कथ ब्रह्मयोषित ।। स0सू0 4/8
68 स्त्रियो ब्रह्म उत वा पुमान्– इस श्रुति को स्त्रियो ब्रह्म' इति हि प्रथममामनन्ति।
उत वा पुमान् इति तु वैभवोक्ति रूप मे प्रस्तुत किया है। स0सू0 पृ0 402
69 तत्वार्थवचन चैव मार्ग इत्यभिधीयते। ना0शा0 19/83
70 चित्रार्थसमवाये तु वितर्कोरूपभिष्यते । ना0शा0 19/83
71 यत्सातिशयवद्वाक्य तदुदाहरण स्मृतम् । ना0शा0 19/84
72 भावतत्वोपलब्धिस्तु क्रम इत्यमिधीयते । ना0शा0 19/84
73 सामदानादिसम्पन्न सग्रह परिकीर्तित । ना0शा0 19/85
74 रूपानुरूप गमनमानुमानमिति स्मृतम् । ना0शा0 19/85
75 रति हर्षोत्सवाना तु प्रार्थना भवेत्
76 सरम्भवचन चैवतोटक त्विति सक्षितम्। ना0शा0 19/87
77 स0सू0 पृ0 640 आडयार ला सीरिज
78 तोरकस्यान्यथा भाव ब्रुवतेऽधिबल बुधा। द0रू0 1/41
79 स0सू0 पृ0 675
80 कपटेनातिसन्धान ब्रुवतेऽधिवल बुधा । ना0शा0 19/87
81 स0सू0 पृ0 677
82 भय नृपारिदस्यूत्थमुद्वेग परिकीर्ति । ना0शा0 19/88
83 स0सू0 पृ0 686
84 शकाभयत्रासकृतो विद्रव समुदाहृत । ना0शा0 19/88
85 शकात्रासौ च सम्भ्रम । द0रू0 1/42
86 अयमिहक्षमया दलित क्षणात्प्रतिमुखे परामुखवद्भवम्।
नरवलु यातिन तिष्ठति च हिया भवति सप्रतिथ पर। स0सू0 8/74
87 अपरावर्त्यपि कोप पश्चादाकृष्टपाद इव माति। स0सू0 8/74
88 गर्भस्योद्भेदन यत्साक्षिप्तिरित्यभिधीयते । ना0शा0 19/86
89 गर्भबीज समुद्भेदायाक्षेप परिकीर्तित । द0रू0 1/42
90 गर्भनिर्भिन्न बीजार्थो विलोमनकृतोऽथवा। क्रोध त्यसनजो वापि विमर्श इति स्मृत । ना0शा0 19/42
91 अपायाभावत प्राप्ति नियताप्ति सुनिश्चिता नियता तु फलप्राप्ति यदाभावेन पश्यति।
नियतां ता फलप्राप्ति सगुणा परिचक्षते।। ना0शा0 19/22
92 फल प्रकल्प्यते यस्या परार्थायैक्केवलम्। अनुबन्धविहीनत्वात् प्रकरीति विर्निदशेत् । ना0शा0 19/25
93 तत्रापवाद सफेटो विद्रवद्रवशक्तय । द्युति प्रसगश्छलन व्यवसायो विरोधनम्।।
प्ररोचना विचलनमादान च त्रयोदश।। द0रू0 1/44
94 दोष प्रख्यापन यत्तु सोऽपवाद इतिस्मृत । ना0शा0 19/88
95 रोषग्रथित वाक्य तु सफेट परिकीर्तित । ना0शा0 19/89
96 विद्रवो वधबन्धादि । द0रू0 1/45
97 द्रवोगुरूतिरस्कृति । द0रू0 1/45
98 गुरूत्यतिक्रमो यस्तु सद्रव परिकीर्तित। ना0शा0 19/90

99 विराधिप्रशाया यश्च सा शक्ति परिकीर्तिता । ना0शा0 19/90
100 वाक्यमाघर्ष सयुक्त द्युतिस्तज्ज्ञैरूदाहृता । ना0शा0 19/92
101 प्रसगश्चव विज्ञयो गुरूणा परिकीर्तनम् । ना0शा0 19/91
102 स0सू0 पृ0 776 अडयारला0 सीरिज
103 छलन चावमाननम । द0रू0 1/46
104 अपमानकृत वाक्य कार्यार्थछादन भवेत् । ना0शा0 19/94
105 व्यवसाय स्वशक्तयुक्ति । द0रू0 1/47
106 सरब्धाना विरोधनम अथवा सरम्भोक्ति विरोचनम् इति पाठान्तरम । द0रू0 1/47
107 सिद्धामन्त्रणतो भाविदर्शिका स्यात्प्ररोचना । द0रू0 1/47
108 प्ररोचना च विज्ञेया सहारार्थ प्रदर्शिनी । ना0शा0 19/95
109 विकत्थना विचलनम् । द0रू0 1/48
110 आदान कार्य सग्रह । द0रू0 1/47
111 समानयनमर्थाना मुखधाना सबीजिनाम। नानाभवोत्राणा यद्रीवन्निर्वहण हि तत। ना0शा0 19/43
112 यदाधिकारिक वस्तु सम्यक प्राज्ञ प्रयुज्यते। तदर्थो य समारम्भस्तत्कार्य परिकीतिर्तम।। ना0शा0 19/26
113 अभिप्रेत समग्र च प्रतिरूप क्रियाफलम्। इतिवृते भवेधस्मिन फलयाग प्रकीतित । ना0शा0 19/13
114 सन्धिर्निराधा ग्रथन निर्णय परिभाषणम्। प्रसादानन्द समया कृतिभाषोयगूहान ।
पुर्वभावापसहारो प्रशस्तिश्च चतुर्दश।। द0रू0 1/49 50
115 मुखबीजोपगमन सन्धिरित्यमिधीयते।। ना0शा0 19/97
116 कार्यस्यान्वषण युक्तया विरोध इतिकीर्तित । ना0शा0 19/98
117 विबोधकार्य मार्गणम । द0रू0 1/51
118 उपक्षेपस्तु कार्याणा ग्रथन परिकीर्तितम् । ना0शा0 19/98
119 अनुभूतार्थकथन निर्णय समुदाहृत । ना0शा0 19/99
120 परिभाषा मिथो जल्प । द0रू0 1/52
121 प्रसाद पर्युपासनम् । द0रू0 1/52
122 आनन्दो वाजिछताप्ति । द0रू0 1/52
123 समागमस्तथार्थानामानन्द परिकीर्तित । ना0शा0 19/100
124 समयो दु खनिर्गम । द0रू0 1/52
125 दु खस्यापगमो यस्तु समय स निगघते । ना0शा0 19/101
126 स0सू0 पृ0 826
127 कृतिर्लब्धार्थ शमनम । द0रू0 1/53
128 लब्धस्यार्थस्य शमन द्युतिमाचक्षते पुन । ना0शा0 19/101
129 मानाधप्तिश्च भाषणम् । द0रू0 1/53
130 सामदामादिसमपन्न भाषण समुदाहृतम् । ना0शा0 19/102
131 स0सू0 10/63
132 अद्भुतस्य तु सम्प्राप्ति रूप गूहनमिष्यते । ना0शा0 19/102
133 पूर्ववाक्य तु विज्ञेय यथोक्तार्थ प्रदर्शनम् । ना0शा0 19/103
134 वरप्रदान सम्प्राप्ति काव्यसहार इष्यते। ना0शा0 19/103
135 प्रशस्ति शुभशसनम् । द0रू0 1/54
136 द्वेधा विभाग कर्तव्य सर्वस्यापीह वस्तुन । सूच्यमेव भवेत् किचिद् दृश्यश्रव्यमथापरम् । द0रू0 1/56
137 नीरसोऽनुचितस्तत्र समूच्यो वस्तुविस्तर । दृश्यस्तु गधुरोदात्ररसभाव निरन्तर । द0रू0 1/57
138 अर्थोपक्षेपकै सूच्य पचमि प्रतिपादयेत्। विष्कम्भचूलिकाडकावतार प्रवेशकै । द0रू0 1/58
139 वृत्तवर्तिष्यभाणाना कथाशाना निदर्शक । सक्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यपात्रप्रयोजित ।। द0रू0 1/59
140 एकानेककृत शुद्ध सकीर्णो नीचमध्यमै । द0रू0
141 तद्वदेवानुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजित । प्रवेशोऽडकद्वयस्यान्त शेषार्थस्योप सूचक ।। द0रू0 1/60
142 अन्तर्जवनिका सस्थैश्चूलिकार्थस्य सूचना। द0रू0 1/61
143 अडकातपात्रैरडकास्य छिन्नाडकस्यार्थ सूचनात्। द0रू0 1/61
144 नाटयधर्ममपेक्ष्यैतत्पुनर्वस्तु त्रिधेष्यते । द0रू0 1/63
145 सर्वेषानियतस्यैव श्राव्यमश्राव्यमेव च। द0रू0 1/64
146 सर्वश्राव्य प्रकाश स्यादश्राव्य स्वगत मतम् । द0रू0 1/64
147 द्विधाऽन्यन्नाटयधर्माख्य जनान्तमपवारितम् द0रू0 1/65
148 त्रिपताकाकरेणान्यानपवार्यान्तराकथाम्। अन्योन्यामन्त्रण यत्स्याज्जनान्तेत्ज्जनान्तिकम् । द0रू0 1/65
149 रहस्य कथ्यतेऽन्यस्य परावृत्यापवारितम् । द0रू0 1/66
150 कि ब्रवीष्येवमित्यादि बिना पात्र ब्रवीति यत्। श्रुत्वेवानुक्तमप्येकस्तत् स्यादाकाशभाषितम् । द0रू0 1/37

चतुर्थ अध्याय

संकल्पसूर्योदय में रस तथा अलङ्कार

(क) रस

(ख) अलङ्कार

संकल्पसूर्योदय में रस तथा अलङ्कार

(क) रस –

साहित्य जगत् में रस से तात्पर्य है– काव्य, नाटकादि के पठन, श्रवण या दर्शन से सहृदय के हृदय में उद्दीप्त तन्मयीभाव रूप आनन्द। यद्यपि यह आनन्द एक रूप ही हुआ करता है किन्तु विभिन्न आलम्बनों का आश्रयण करने के कारण इसके अनेक भेद किये जाते है। आलम्बन भेद के कारण आश्रय में भिन्न–भिन्न प्रकार के अनुभाव तथा सचारीभाव उत्पन्न होते हैं जिन्हें पढने या देखने से सहृदय पाठक या दर्शक के हृदय में अनेक प्रकार की आनन्दमयी अनुभूतिया हुआ करती हैं। इन्हीं अनुभूतियों को हम रस कहते है। पाठक या दर्शक की रूचि एव योग्यता भेद के कारण रसानुभूति में भी मात्रा भेद देखा जाता है। एक ही दृश्य किसी को सुख किसी को उदासीनता और किसी को दु ख (ग्लानि) दे सकता है। इसका उदाहरण सर्वत्र सुलभ है। आधुनिक चलचित्रों में नायिकाओं के नग्न प्रदर्शन को देखकर जहा युवा वर्ग उछल पड़ता है वही प्रौढ़जन बीसवी शती की विडम्बना समझकर उदासीन हो जाते है और भारतीय सस्कृति से अनुराग रखने वाले बुद्ध जन कुढ़ कर रह जाते हैं। इस अनुभूति भेद का कारण रूचि–भिन्नता ही है।

रसों की सख्या के विषय में भी विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान्–श्रृगार, हास्य, करूण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्‌भुत नामक आठ रस ही मानते है[1]। तो कुछ विद्वान् शान्त को भी नवम रस के रूप में स्वीकार करते है[2] । आचार्य विश्वनाथ ने वात्सल्य को भी रस स्वीकार किया है[3]। भोज ने उक्त नवरसों के अतिरिक्त प्रेय,

उदात्त तथा उद्धत रसों को भी स्वीकार किया है। इसी प्रकार अन्य अनेक विद्वानों ने भी रस सख्या में भेद तथा रसों के नये नामों का प्रयोग किया है। अत सक्षेप में यह कहा जा सकता है कि रसों की इयत्ता नहीं है। उनकी निश्चित सख्या देना कठिन है। तथापि सस्कृत साहित्य में मुख्य रूप से नवरस स्वीकार किये जाते हैं।

<u>शान्त रस</u>

सकल्प सूर्योदय नाटक में प्रधान रस शान्त रस है । वीर आदि उसके अग के रूप में आए है। वेदान्त देशिक के अनुसार शान्त रस ही त्रिवर्गनिष्ठ कोमल चित्त व्यक्तियों की प्रीति के लिए रसान्तर श्रृगार आदि रूप में परिवर्तित हुआ करता है। वही सर्वगुण सम्पन्न शान्त रस इस नाटक में स्थित है[4] । नाटककार की मान्यता है- शान्त रस ही चित्त के खेद को दूर करने वाला, वास्तविक आनन्द देने वाला एक मात्र रस है, श्रृगार तो असभ्य की श्रेणी में आता है, वीर रस भी एक दूसरे के तिरस्कार और अवहेलना को प्रोत्साहन देता है और अद्‌भुत रस की गति स्वभावत विरूद्ध है[5] । अत शान्त रस ही नि सन्देह वास्तविक रस है।

जिस प्रकार महाकवि भवभूति ने 'उत्पत्स्यते च मम कोपि समान धर्मा, कोलो ह्यय निखधिविर्पुला च पृथ्वी' कहकर अपने नाटकों की उत्कृष्टता का ज्ञापन किया है, उसी प्रकार वेदान्तदेशिक भी कहते हैं कि सासारिक प्राणी अपने स्वभाव भेद के कारण इस शान्तप्रधान नाटक को स्वीकार करें या अस्वीकार करें उससे हमारा कुछ नहीं बिगड़ता, ससार ईश्वर रहित नही है और ईश्वराज्ञा में विद्यमान सूर्यचन्द्रादि चतुर्दश साक्षी तो जानते ही है।

शमधन निधि सत्वप्राय प्रयोगमयोझिन

स्वगुणवशत स्तोतु यद्वा वरीव्रत निन्दितुम्।

किमिह बहुभि कि नश्छिन्न विश्वमनीश्वर

तदुपनिहिता जाग्रत्येत्र चतुर्देशसाक्षिण ।।

स सू 1/23

नाटक में वीर या श्रृगार का ही प्राधान्य होना चाहिए। इस कथन में लक्षणकार तत्प्रायिकत्व में ही अभिप्राय है तभी नागानन्दादि में शान्तरस की प्रधानता उत्पन्न होगी। किन्तु शान्तरस के विषय में अनेक विप्रतिपत्तिया देखी जाती है। कुछ लोग कहते हैं कि अनादि कालिक वासना के कारण मनुष्यों में राग–द्वेषादि सर्वदा विद्यमान रहते हैं। प्राय विद्वान् भी तद्युक्त ही देखे जाते है। अत ससार में शान्तरस में अभिनिवेश रखने वाले कवियों और उन रचनाओं का आस्वाद ले सकने वाले सहृदयों का सर्वथा अभाव होने के कारण काव्यों में शान्त रस का सन्निवेश ही असम्भव है[6] ।

कुछ लोगों अर्थात् विद्वानों का विचार है कि शान्त रस ही अप्रसिद्ध है। बिना किसी की सत्ता रहे उसका चित्रण नहीं किया जा सकता है। नाट्य शास्त्रकार ने आठ रस[7] और उसके अनुकूल आठ स्थायी भाव[8] ही बताये है। अत शान्त नामक नवम रस तथा शम या निर्वेद स्थायी भाव की कल्पना सम्प्रदाय विरूद्ध है। कुछ लोगों का कहना है कि श्रव्य काव्यों में तो यथाकथचित शात रस का अभिनिवेश हो भी सकता है किन्तु अभिनय प्रधान दृश्यकाव्यों में उसका निवेश बिल्कुल असम्भव है। क्योंकि समस्त व्यापारों के विनाश रूप शम का अभिनय नहीं किया जा सकता[9] । इस कारण नाटकों में शान्तरस का निवेश असम्प्रदायिक होने के साथ अप्रमाणिक भी है।

अन्य अनेक विद्वानों के मत में शान्त नामक नवा रस है। शम अथवा निर्वेद उसका स्थायीभाव हैं श्रव्य और दृश्य काव्यों में उसका निवेश भी किया जा सकता है। सकल्प सूर्योदय के नाटककार को यही मत अभीष्ट है, किन्तु उनके मत के साथ लक्ष्य लक्षण समन्वय करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उनका शान्तरस निर्वेद मूलक शम या निर्वेद स्थायीभावक नहीं है। शान्तरस को उन्होंने शमितचित्तखेद रस कहा है[10]। इसी के द्वारा उन्होने अन्य रसों का चित्तखेदकरत्व भी व्यक्त कर दिया। शान्तरस श्रृगार, वीर आदि का अतिक्रमण कर स्थित रहता है, उसका विभाव तत्वावलोकन है, श्री वेदान्तदेशिक ने इसे तत्वावलोकनविभाव समेचितात्मा कहा है। तत्त्व केवल चिदचिच्छरीरक ब्रह्म है। स्वमाहात्म्यगोपन तथा बालभाव प्रदर्शन अनुभाव एव पुलक अश्रपातादि सचारी भाव है[11] । अब विचारणीय यह है कि चित के खेद का शमन किस प्रकार होता है। इसके लिए श्री वेदान्तदेशिक ने सात्त्विक त्याग को उपाय बताया है। सात्त्विक त्याग भगवत्कृपा के बिना सम्भव नहीं है। भगवत्कृपा निर्हेतुकी होती हुई भी नैघृण्यवैषम्यदोष निवारणार्थ कर्मसापेक्ष होकर प्रवृत होती है। जिसके लिए भक्ति या प्रपत्ति अनिवार्य है। कहने का मतलब यह है कि अनन्य भक्ति या प्रपत्ति द्वारा प्रतिनारायण की कृपा से ही मन के दु खो का शमन हो सकता है। और यही मन के दु खो काशमन ही शान्त रस का स्वरूप है। अत उसका स्थायिभाव भक्ति या प्रपत्ति (शरणागति) स्वरूप भगवत्प्रेम से उत्पन्न शम है न कि निर्वेद से उत्पन्न शम या निर्वेद।

शान्त रस का यह स्वरूप स्वीकार कर लेने पर उनके काव्यों में लक्ष्य लक्षण समन्वय भी हो जाता है। निर्वेद मूलक शम या

निर्वेद को स्थायि भाव मान लेने पर अन्य काव्यों की बात तो दूर रही सकल्प सूर्योदय में ही शान्त रस की सिद्धि नहीं की जा सकती है। जब कि श्री वेदान्तदेशिक नें उद्घोष के साथ कहा है कि सकल्प सूर्योदय में ससार मार्ग में निरन्तर चलने (जन्म लेने) से पीड़ित जनों की आर्ति का नाश करने के अनुकूल उत्कृष्ट गुण (भक्ति और प्रपत्ति) से युक्त शान्त रस विद्यमान है, जो सात्विक जनों में आस्वाद (प्रीति) का सम्पादन करता है–

ललितमनसा प्रीत्यै बिभ्रद्रसान्तरभूमिका–
मनवमगुणो यस्मिन् नाट्ये रसो नवम स्थित ।
जनन पदवीजङ्घालार्तिच्छिदानुगुणीभव–
न्नटपरिषदा तेनास्वाद सतामुपचिन्विति ।। स सू 1/3

अत निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि समय सगत शात रस को स्वीकार करते हुए भी श्री वेदान्त देशिक ने उसके स्वरूप को तद्रूपेण नहीं स्वीकार किया है। अन्य मतों की सार्थकता का भी विवेचन कर लेना समीचीन होगा ।

शान्त रस प्रधान काव्य रचना करने वाले कवियों और उनका रसास्वादन करने वाले विद्वानों का आभाव बताना प्रत्यक्ष, तर्क और शास्त्र से सर्वथा विरूद्ध है। अनेक नाटक और काव्य ऐसे हैं जिनका प्रधान रस शान्त है, उनके पाठकों और दर्शकों का भी अभाव नहीं है तो इस मत को कैसे मान्यता दी जा सकती है। दूसरी बात यह है कि स्थायीभावों को चित्तवृति रूप ही स्वीकार किया गया है। विभावादिक से सम्पृक्त होकर वे रस रूप में परिणत हो जाती है। मनुष्यों में शम या र्निवेद चित्त्तवृति रहती है, जिसके कारण कुछ विद्वान् त्रैवर्गिक पुरूषार्थ से निस्पृह होकर पर ब्रह्म में मन लगाये हुए

मोक्षोपाय स्वरूप शान्तरस में सस्पृह देखे जाते है। अदृष्ट वशात् सामान्य जनों की उधर प्रवृत्तिन होने के कारण अभाव नहीं कहा जा सकता । मेघाच्छन्न आकाश में सर्य के न दिखाई पड़ने पर भी बुद्धिमान उसकी सत्ता को अस्वीकार नहीं कर सकते। जहा तक साहित्य शास्त्र के प्रमाण का प्रश्न है, लक्ष्य ग्रन्थ मिलते हैं और लक्षण ग्रन्थों में उनका सम्यक् समर्थन मिलता है। इसलिए शान्तरस प्रधान कवियों और सहृदयों का अभाव कहना उचित नहीं है।

शान्तरस का अभाव बताकर शान्तरस प्रधान काव्यों के कृतित्व पर सन्देह करना अविचारिताभिधान ही कहा जाएगा, क्योंकि शान्तरस का अनेक विद्वानों ने समर्थन किया है। नाट्यशास्त्रकार भरत ने अपने ग्रन्थ में पूर्ण रूप से शान्तरस का समर्थन किया है। शान्तरस को नवम रस एव शम को उसके स्थायी भाव के रूप में स्वीकार किया गया है[12] । किन्तु कुछ लोग इसे क्षेपक मानते हैं। यदि नाट्यशास्त्र का विधिवत अवलोकन किया जाय तो शान्त रस युक्त पाठ ही सर्वाधिक प्रमाणिक सिद्ध होता है, क्योंकि भरतमुनि ने नाट्यस्वरूप का विवेचन करते हुए कहीं- कहीं शम की स्थिति स्वीकार की है[13] । दु खार्त, शोकार्त, श्रमार्त और तपस्वियों को विश्रान्ति देने वाला नाटक कहा गया है[14]। यह तभी सम्भव है जब नाटक शान्तरस प्रधान होंगे, क्योंकि दु खार्तादिकों की विश्रान्ति श्रृगार, हास्य, वीर आदि रसों से नही हो सकती है। उनके लिए परमकाम्य तो शान्ति ही है। शन्ति का उद्भावक शान्त रस ही हो सकता है अन्य रस नहीं। इसके अतिरिक्त भरमुनि ने तो ज्ञान और योग का प्रदर्शन भी नाटक में स्वीकार किया है[15] तो फिर कैसे यह कहा जा सकता है कि शान्तरस उन्हें अभीष्ट नहीं है। इस तरह सूक्ष्मावलोकन करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है

कि भरतमुनि को शान्त रस सर्वथा इष्ट था, अत निम्नलिखित श्लोक समीचीन है–

'श्रृगारहास्य करूणा रौद्रवीर भयानका ।

वीभत्साद्भुतशान्ताश्चनवनाट्ये रसा स्मृता [16] ।।

कुछ समय के लिए यह मान भी लिया जाय कि नाट्य शास्त्रकार भरत मुनि ने शान्त रस का परिगणन नही किया है, तो भी इससे शान्त रस का आभाव नही सिद्ध होता है। भरत के आशय को जानने वाले उद्भट आदि ने स्पष्ट रूप से शान्तरस का निरूपण किया है। काव्यालकार सार सग्रह में उद्भट ने नव रसों और नव स्थायिभावों को स्वीकार किया है[17]।

आनन्दवर्द्धन ने अपने ग्रन्थ में स्पष्टरूप से महाभारत में शान्तरस को अगीरस के रूप में स्वीकार किया है[18] । उनके कहने का तात्पर्य है कि वे अपना ही मत नहीं दे रहे है, अपितु महामुनि व्यास को भी शान्त रस ही अभीष्ट था। यद्यपि महाभारतकार ने अभिधया कहीं नही कहा है कि महाभारत में शान्तरस अगी है, किन्तु शान्त रस अन्य रसों से उपसर्जनत्वेन अनुगम्यमान होकर अगीरूप में ही स्वीकार किया गया है, यह सुव्यक्त है। आनन्दवर्धनाचार्य के मत से सारभूत अर्थ का व्यग्यरूप से प्रतिपादन ही उचित है न कि वाच्य रूप से क्योंकि सारभूत अर्थ स्वशब्द वाच्य होने की अपेक्षा व्यग्यरूप से प्रकाशित होकर सुतरा शोभा प्राप्त करता है। इस प्रकार उन्होंने महाभारत में (तृष्णाक्षय सुपरिपोषण लक्षण) शान्त रस को अगीरस के रूप में स्वीकार किया है।

अभिनवगुप्तपादाचार्य ने स्पष्ट रूप से नव रसों को स्वीकार किया है[19] । रसो का क्रम और स्वरूप बताते हुए वे कहते है–

'तत्रस्त्रिवर्गात्मक प्रवृति (ति) धर्म विपरीत निवृत्त (ति) धर्मात्मको मोक्षफल शान्त । तत्र स्वात्मावेशेन रसचर्वणेत्युक्तम्[20] स्थायीभावों पर विचार करते हुए शान्त रस के विषय में वे कहते हैं कि 'तत्वज्ञानजनिर्वेद इसका स्थायी भाव[21] है न कि दरिद्रयादि से उत्पन्न। दरिद्रयादि से उत्पन्न निर्वेद तत्वज्ञानज निर्वेद से भिन्न है[22] । सम्यक् विवेचन करने के अनन्तर इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शान्त रस है[23] ।

मम्मट ने भी अपने काव्यप्रकाश में 'निर्वेद स्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपिनवमो रस' कहा है[24] ।

विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में शान्तरस को स्वीकार किया है[25] । विश्वनाथ ने शान्तरस का स्वरूप निरूपण भी सम्यक् रूप से किया है।

शार्ङ्गदेव ने सगतिरत्नाकर में श्रृगारादि नव रसों को स्वीकार किया है[26] । शार्ङ्गदेव ने उन लोगों के मत का खण्डन भी किया है जो शान्तरस के शमसाध्य होने क कारण नट में इसकी असम्भाव्यता बताकर आठ रस ही स्वीकार करते है। इनका मत है कि यह बिना मतलब की बकवास है क्योंकि नट तो किसी रस का आस्वादन नहीं करता है। सामाजिक रसों का अनुभव करते है। उनमें रसास्वाद स्वीकार नहीं किया जा सकता[27] ।

रसगगाधर में पण्डितराजजगन्नाथ ने नव रस स्वीकार किया है[28]। इसके लिए पण्डित जी ने भरतमुनि का प्रमाण भी दिया है[29] । यही नही नाटकों में आठ ही रस स्वीकार करने वालों का उन्होने खण्डन भी किया है[30]। तथा अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि नाटक में भी शान्त रस होता है। इसके समर्थन में उन्होंने सगीतरत्नाकर का प्रमाण भी दिया है[31]।

इस तरह हम देखते हैं कि अनेक ग्रन्थों में तथा इनके रचनाकारो ने शान्त रस को स्वीकार किया है। भरतमुनि ने भी एक मात्र शान्त रस को स्वीकार किया है। उनके अनुसार अन्य श्रृगारादि रस समुद्र में तरग के समान इसी में उत्पन्न होते हैं और इसी में विलीन हो जाते है[32] । वेदान्तदेशिक भी इसी मत को स्वीकार करते हुए शान्त रस को प्रमुख माना है तथा अन्य रसों को इसकी ही विकृति स्वीकार करते है[33]।

इस प्रकार शान्त रस किसी भी प्रकार असाम्प्रदायिक नहीं कहा जा सकता अपितु वह साम्प्रदायिक ही नहीं विद्वानों द्वारा प्रतिपादित तथा सहृदय हृदय सवेद्य भी है।

काव्यों में शान्त रस स्वीकार करते हुए नाटक में इसलिए स्वीकार न करना कि शम साध्य होने के कारण नट में शम सम्भव नहीं है पूर्णत अनुचित है क्योंकि यह जो हेतु है असगत है। नट में तो रसाभिव्यक्ति स्वीकार ही नहीं की जाती फिर उसकी शान्ति या अशान्ति से क्या प्रयोजन। सामाजिकों के शान्तियुक्त होने के कारण उन्हें रसोद्‌बोध होता ही है इसमें तो कोई रूकावट है नहीं। यदि नट में शान्ति के अभाव के कारण अभिनय द्वारा उसका प्रकाशन असम्भव बताया जाता है तो यही असगति सभी रसों के अभिनय के समय उपस्थित होगी। क्योंकि नट में तो भय, क्रोध आदि सबका अभाव रहता है। यदि नट में वास्तविक क्रोधादि के अभाव में भी शिक्षा अभ्यासादि के द्वारा कृत्रिम क्रोधादि के द्वारा उन रसों की व्यञ्जकता स्वीकार करते हैं तो वास्तविक शम के अभाव में भी नट शम के कार्यो शरीर में अनास्थादि को शिक्षादि द्वारा दिखा सकता है। अत नाटक में शान्त रस स्वीकार करने में किसी प्रकार की कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

शान्त रस को न मानने वालों की अनेक प्रकार की आपत्तिया सकल्पसूर्योदय के रचनाकार के समक्ष भी उपस्थित थी। ग्रन्थकार ने सूत्रधार और चेटी के वचनों द्वारा उनका समाधान किया है। शान्तरस का अभिनय करने वाले नटों और उसका आस्वादन करने वाले सामाजिकों का अभाव कहकर शान्तरस न मानने वालो का ग्रन्थकार ने प्रतिवाद किया है यथा–

'अथवा तादृशान् सम्यान् मत्वा जगति दुर्लभान् ।

शके शान्तरसोल्लासमशक्यममिमेनिरे ।।[34]

इसका तात्पर्य यह है कि शान्तरस के आस्वाद में रसिक कम हैं, किन्तु उनका सर्वथा अभाव नहीं हैं। ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन कहते हैं– 'शान्तश्च तृष्णाक्षयसुखस्य य परिपोषस्तल्लक्षणो रस प्रतीयत एव। यदि नाम सर्वानुभवगोचरतातस्य नास्ति, नेतावतासावलोक सामान्य महानुभाव चित्तवृत्ति विशेषवत् प्रतिक्षेप्तु शाक्य[35] । इस पर भी कुछ लोग यह कह सकते है कि शान्तरस की प्रतीति कुछ लोगों को हो सकती है परन्तु यह सवलोगों के लिए प्रशसा का विषय नहीं हो सकता । उन्हें यह मान लेना चाहिए कि शात रस ही क्यों अन्य रस भी सभी को आसानी से समझ में आ जाये यह आवश्यक नहीं है। बीतरागों द्वारा श्रृगार की प्रशसा नहीं होती है तो उसे भी रस की श्रेणी में नहीं रखा जाना चाहिए अथवा श्रोत्रियादि अनेक व्यक्तियों द्वारा किसी रस की चर्वणा न होने के कारण सभी रसों का अभाव मान लिया जाय यह कहा तक उचित है शान्तरसभिनिवेशियों के अभाव का खण्डन ग्रन्थकार ने भवतु नाम सनकसनन्दनादिमुनिजन सगृहीत सोऽपि तादृशो रस[36] कहकर सनकसनन्दनादि के निर्देश द्वारा किया है।

सभी व्यापारोपरतिरूप शम का अभिनय असम्भव हैं। इस वाद का उपक्षेप करके[37] वेदान्तदेशिक ने उसका खण्डन किया है। सूत्रधार नटी से कहता है "आर्ये मैव वादी । न ही वयमवधूतनिखिल-धर्माणामलेपकाना मतमभिनेष्याम , यै नैवमाशकसे सन्ति। खलुभगवता गीताचार्येण सहस्रश प्रतिपादिता सात्विकेतन त्यागेन परिकर्मिता निवृत्ति धर्मा नियता विविधा व्यापारा यदभिनयेन रगोपजीविमाजीवकाश"[38]।

कहने का तात्पर्य यह है कि समस्त व्यापारों की उपरति का आशय फल सापेक्ष कर्म के त्याग से है न कि कर्मस्वरूप के त्याग से है। फलाकाक्षा का त्याग करके कर्मो को करते रहना ही सात्विक त्याग है। गीता में भगवान् कृष्ण ने इसी का समर्थन किया है[39] । इस प्रकार शान्त की पर्यन्तावस्था में भी पुरूष सव्यापार ही रहता है अत शान्त को किसी प्रकार भी अभिनयानर्ह नहीं कहा जा सकता अपितु अन्य रसों का ही मुक्तावस्था में अभिनय सम्भव नहीं है, इसलिए अन्य रसों की अपेक्षा शान्त रस ही अभिनय इत्यादि के लिए श्रेष्ठतर है[40] ।

नाटक की सम्पूर्ण कथावस्तु मोहराज को पराजित करने और विवेक तथा ज्ञान के उदय को लेकर निर्मित की गई है। यद्यपि कि अन्य रसों जैसे- श्रृगार, वीर, करूण, वीभत्स, अद्‌भुत की उद्‌भावना भी प्रस्तुत नाटक में कराई गई है फिर भी इन सबका सहयोगी रसों के रूप में ही उपादेय लगता है। प्रधान रस तो निर्विवाद रूप में शान्त ही है। शान्त रस की स्थिति दृश्य काव्य में स्वीकार न करने वाले आलचकों को वेदान्त देशिक ने आड़े हाथों लिया है और बड़े ही सबल तर्को द्वारा एक चुनौती के रूप में शान्तरस की गौरवपूर्ण प्रतिष्ठा की है। रस के आदि आचार्य भरत मुनि द्वारा परिगणित न होने

पर भी शान्त रस भरत के व्याख्याता अभिनव गुप्त द्वारा अपनी सबल प्रतिष्ठा कराकर उद्भट, मम्मट और विश्वनाथ द्वारा पालित-पोषित होकर अपनी दीर्घकालीन सजीवनी शाक्ति का प्रमाण तो प्रस्तुत करता ही है।

'सकल्पसूर्योदय' नाटक में कुछ अन्य रस भी उद्भावित हुए है। नाटक में श्रृगार, वीर, करूण, हास्य, रौद्र, वीभत्स इत्यादि रसों का भी नाटककार ने यथावसर सफलता पूर्वक सयोजन किया है।

<u>श्रृड् गार रस</u>

प्राय सभी विद्वानों ने श्रृगार को रसराज माना है। इसकी उपेक्षा करके किसी कवि का साहित्य जगत् में लब्ध प्रतिष्ठ हो सकना सन्देहास्पद है। दशरूपककार ने इसका लक्षण निम्नलिखित रूप में किया है-

'रम्यदेश कलाकाल वेषभोगादिसेवनै ।।

प्रमोदात्मा रति सैव यूनोरन्योन्यरक्तयों ।

प्रहृष्टमाणा श्रृगारों मधुराड् गविचेष्टितै ।। दशरूपकम् 4/48

अर्थात् रमणीय देश, कला, काल, वेष तथा भोग आदि के सेवन के द्वारा परस्पर अनुरक्त युवक युवती को जो प्रमोद होता है वह रति भाव कहलाता है , वही मधुर अड् ग चेष्टाओं से पुष्ट होकर (पहृष्यमाणा) श्रृड गार रस कहलाता है। श्रृगार रस के मुख्यत दो भेद है- सम्भोग ओर विप्रलम्भ श्रृगार।

श्रृड्गार रस का उदाहरण भी सकल्पसूर्योदय में देखा जा सकता है। जिसका नाटककार ने यथावसर प्रयोग किया है। नाटक में क्रोध कहता है कि ससार के सो जाने पर शास्त्र रूपी अन्त पुर में जाकर मुनि शान्ति के ब्याज से श्रृड् गार शास्त्र का ही अनुशीलन

करता है। उसका आत्मज्ञान महल है, शुभगुणों का समूह अलड् करण है, समाधि सम्भोग है एकान्त में जप रति कथा है।

स्वसम्बोध सौध शुभगुणगणोमण्डन विधि

समाधि सम्भोगोरहसिजपशैली रति कथा।।

सुषुप्ते लोकेऽद्य श्रुतिपरिषदन्त मुरगतोमुनि

शान्तिव्याजान्मुखरयति श्रृड्गार निगमम् ।। स सू 4/57

अन्यत्र बसन्त कहता है कि भला बताओ, योगी होते हुए भी परिहास, सलाप और क्रीडाओं से विचित्र युवतियों की कथाओं मे किसका मन नहीं लगता है?

हसित लपित क्रीडाचित्रैरनुज्झिदभिख्यया

युवति कथया योगी सन्नप्यसगमुपैतिक ।। स सू 4/21

तरुणियों के वय सौन्दर्य से सबके मन का विजित हो जाना स्वाभाविक है। कवि द्वारा उनके रूप माधुर्य का बहुत सुन्दर चित्रण किया गया है। कवि की ही भाषा में इसपर दृष्टि डालना अधिक समीचीन होगा–

स्मरेण स्तन कुडमलेन भुजयोर्मध्य तिरोधित्सित

नेत्रेण श्रवण लिलघयिषित नीलोत्पल श्रीमुषा।

अग सर्वमलचिकीर्षितमहो भावै स्मराचार्यकै–

स्तन्वीनाविजिगीषित चवयसा धन्येन मन्येजगत्।।

वीर रस

प्रस्तुत नाटक में वीर रस का भी प्रसड् ग आया है। वीर रस के लक्षण में दशरूपककार ने लिखा है कि प्रताप, विनय, अध्यवसाय, सत्व, मोह, अविषाद, नय, विस्मय, पराक्रम इत्यादि

(विभावों) के द्वारा होने वाले उत्साह (स्थायी भाव) से वीर रस होता है। वह दया, युद्ध और दान (अनुभाव) के योग से तीन प्रकार का होता है। और उसमें मति गर्व, धृति, प्रहर्ष (व्यभिचारी भाव) हुआ करते हैं।

वीर प्रतापविनयाध्यवसाय सत्तव

मोहाविषादनयविस्मय विक्रमाद्यै ।

उत्साहभू स च दयारणदानयोगात्

त्रेधा किलात्र मतिगर्व धृति प्रहर्षा ।।

दशरूपकम् 4/72

सकल्पसूर्योदय नाटक में प्रसङ्ग आया है कि विवेक, सेनापति, गरू और शिष्य के परामर्श काल में कोई नेपथ्य से कहता है कि चार्वाक, बौद्ध जैन आदि वेद वाह्य सिद्धान्त वालों के साथ अपने पौरूष की परीक्षा करने वाला न्याय, व्याकरण आदि शास्त्रों का सम्यक् ज्ञाता मैं बीच सभा में ललकार कर कहता हूँ कि आसेतुहिमाचल शास्त्रार्थ करने के लिए आने वाले प्रतिद्वन्द्वियों को तूल या तृण क्या तुषकण्डिका के बराबर भी नहीं समझता हूँ[41] ।

इस गर्वपूर्ण ओजस्वी कथन को सुनकर किसके अन्दर वीरता का सचार नही हो जाता है? इसे सुनकर शिष्य भी शान्त नहीं रह सका। नहले पर दहला रखते हुए वह बोल उठा–

यतीश्वर सरस्वती सुरभिताशयाना सता

वहामि चरणाम्बुज प्रणतिशालिना मौलिना ।

तदन्यमत दुर्मदज्वलित चेतसा वादिना

शिरसु निहित मया पदमदक्षिण लक्ष्यताम् ।।

स सू 2/43

अर्थात यतिराज रामानुज के वचनों से श्रद्धा रखने वाले महापुरूषों के

चरणाम्बुजों को तो मैं नत होकर अपने शिर पर धारण करता हूँ किन्तु उनसे अतिरिक्त सिद्धान्तों के दुरभिमान से दग्ध चित्तवाले प्रतिपक्षियों के शिर पर वाम चरण रखे हुए मुझे देखिये अर्थात् अन्य प्रतिपक्षियों को अभीक्षण भर में मै जीत लेता हूँ ।

उपर्युक्त श्लोकों को पढ़ने मात्र से उत्साह जागृत हो जाता है। अत यह कहा जा सकता है कि यहा पर वीर रस का उत्कृष्ट परिपोषण हुआ है।

विवेक और महामोह पक्ष की सेनाओं में हो रहे घोर सग्राम में भी वीर रस की व्यजना होती है। उदाहरण स्वरूप एक श्लोक प्रस्तुत है–

पतीनुद्यद्विपत्तींस्त्रुटित पृथुशिर कन्धरासिन्धुरेन्द्रान्
वहानाकीर्णदेहान् व्यतिहननमिथ· खण्डितागाछतागान्
शस्त्राशस्त्रिप्रसप्रभ वचटचटारावघोर प्रचारा
कुर्वन्त्युद्यामगर्वा कृतिन इह रणे विक्रमैरक्रमेण ।।

स सू 8/34

उपर्युक्त श्लोक में छन्द, चयन और शब्दगुम्फन भी वीर रसानुकूल ही किया गया है।

रौद्र रस

उत्साह के उद्रेक के बाद किसी कर्म में प्रवृत होने पर यदि सामने कोई बाधक आ जाय तो क्रोध उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। यही क्रोध यदि कवि द्वारा सजा–सवार कर अपनी कृति में प्रकट किया जाता है तो रौद्र रस का सचार होता है।

सकल्पसूर्योदय नाटक में नाटककार ने रौद्र रस का बड़ा

ही सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है। किसी पुरुष में क्रोध देखकर जब रौद्र रस की चवर्णा सहृदयों को होने लगती है तो क्रोध ही यदि क्रुद्ध होकर युद्ध के लिए प्रवृत हो तो सहृदय भी भावमग्न होने के कारण ताल ठोंककर खड़े हो जाय तो क्या आश्चर्य ? वेदान्तदेशिक के ही शब्दों में दर्शनीय है–

रून्धान सिन्धुघोषप्रथनमनिभृत क्रन्दयन्दमाधरेन्द्रान्
भिन्दान स्कन्धमेदान्सुरपथरथिना शुष्मण सारथीनाम् ।
शुद्धालोकेन सद्य क्षयमुपगमित क्षान्तिमन्दस्मितेन
क्षुभ्यद्वैधात्रसौध ध्वनिगुणितरव कोऽपि कोपादृहास ।।

स सू 8/21

जिसके अनुचर की यह स्थिति है, वह स्वय यदि क्रुद्ध हो जाय तो क्या दशा होगी ? अत रौद्र रस के परिपोष के लिए महामोह के युद्ध कौशल की उपेक्षा करना उपयुक्त नहीं है। आचार्य वेदान्तदेशिक के वचनों द्वारा अर्थ न समझने वालों को भी इसके श्रवण से रौद्र रस की चर्वणा होने लगती है तो विद्वानों के समक्ष तद्रूपेण उपस्थित करने में क्या हानि है।

पातालक्षिप्त सिन्धु प्रशकलितकुलक्ष्मामृदुत्कील भूमि
निर्धूतादित्य चन्द्र द्युतिगण निबिडध्वान्तनीरन्ध्रदिक्क ।
वैध सौधप्रभेदी विघटित पवनस्कन्ध पर्यस्ततार
प्रारब्धोऽसौ विवेक प्रतिरथिनि महानाहवे मोहवेग ।।

स सू 8/96

भयानक रस

इस रस के विषय में धनजय ने लिखा है

विकृत स्वरसत्त्वादेर्भय भावो भयानक

सर्वाड् गवेपथुस्वेदशोषवैवर्ण्य लक्षण ।।

दैन्य सम्भ्रमसमोहत्रासादिस्तत्सहोदर ।। द रू 4/80

अर्थात् विकृत (डरावने) शब्द अथवा सत्व (पराक्रम, प्राणी, पिशाच आदि) आदि (विभावों) से उत्पन्न होने वाला भय नामक स्थायी भाव ही (परिपुष्ट होकर) भयानक रस होता है। सारे शरीर का कॉपना, पसीना छूटना, मुह सुख जाना, रग फीका पड़ जाना (वैवर्ण्य) आदि इसके चिन्ह (कार्य, अनुभाव) होते हैं। दीनता, सम्भ्रम, सम्मोह, त्रास आदि इसके व्यभिचारी भाव है।

सकल्प सूर्योदय नाटक में भयानक रस का रमणीय स्थल अनुसन्धेय है। काम घबड़ाकर चारों ओर देखते हुए कहता है कि हम लोगों को अब पीछे की ओर पैर बढ़ाना चाहिए। क्योंकि आज शक्ति सम्पन्न होकर विवेक हमारे व्यूह का भेदन कर रहा है। इस पर बसन्त कहता है कि तुम तीनों (काम, क्रोध, लोभ) में से यदि किसी का अनिष्ट हुआ तो सब सत्यानाश हो जाएगा। उक्त स्थल वेदान्तदेशिक के ही शब्दों में पढ़ने योग्य है। काम (सान्तस्त्रास परिवृत्याव लोक्यच) पश्चात्पदानि प्रतिक्षिप्यन्तामस्माभि अद्यहि,

अनिद्राण प्रज्ञा सहज बलधीराद्भुतगति-

स्तितार्तक्षा सन्तोषस्थिरतरतनुत्राणघटित ।

प्रयुक्त केनापि प्रणवरथमास्थाय पुरतो

विवेक प्रत्युद्यन् विघरटयति मे व्यूह घटनाम् ।।

स सू 4/58

(सर्वे भय नाटयन्ति)

बसन्त – युष्मासु त्रिषु कस्यचिद्यदिविपत्स्यते केनचित्

त्यक्ष्यत्येव हि भक्तजीविततया मोह स्वय जीवितम्।

सद्यश्चैनमनुभ्रियेत नियत तदवल्लभा दुर्मति–

स्तत्सम्प्रत्यपसर्पण क्षममित क्षिप्र विवेकास्पदम् ।।

स सू 4/59

इस स्थल पर विवेक द्वारा कामादि में भय तथा उनके अनिष्ट से महामोह पक्ष के नाश का भय दिखाया गया है। इससे भयानक रस का परिपोष होता है।

<u>अद्भुत रस</u>

प्रस्तुत नाटक में अगस्त्य ऋषि का वर्णन नाटककार ने किया है जिसमें अद्भुत रस का स्फुरण हुआ है।

विन्ध्यस्तम्भ प्रकट महिमा विष्वगाचान्त सिन्धु

कुम्भीसूनुर्दनुज कवलग्रास दीप्तोदराग्नि ।

नाकाधीशन्न हुषभुजगीकारदुर्वारशक्ति–

ब्रह्मापत्य मुनिरिह बसन्भ्राजते मुक्तकल्प ।।

स सू 6/56

विन्ध्य का रोकना, समुद्रपान, वातापि भक्षण, नहुष को शाप आदि असाधारण कार्यो से अद्भुत रस का परिपोष होता है।

अन्यत्र नरसिह भगवान् के नखचन्द्र की अद्भुत छटा नाटककार ने प्रस्तुत किया है। जो अत्यत ही दर्शनीय है।

दम्भोलिश्रेणिदीव्यत्खरनखरमुख क्षुण्ण दैतेयवक्षो–

निष्ठ्यूतासृ बस्रवन्तीभरितदशदिशादर्शितापूर्व सन्ध्य ।

स्वामिध्वसप्रकुप्यत्सुररिपुपूतना स्तोभरूप स एष
ब्रह्मस्तम्बैकचन्द्रो बहुभिरिह करैरन्धकार निरून्धे ।।
स0सू 7/38

बीभत्स रस

दशरूपक में इस रस के विषय में कहा गया है कि बीभत्स रस जुगुप्सा नामक स्थायी भाव से होता है। यह तीन प्रकार का होता है (क) कीड़े, दुर्गन्ध, वमन आदि (विभावों) से होने वाला उद्वेगी बीभत्स होता है (ख) रूधिर, अतड़िया, हड्डी (कीकस), मज्जा (वसा) मास आदि (विभावों) से होने वाला क्षोभण बीभव्स तथा (ग) जघन, स्तन आदि के प्रति वैराग्य से होने वाला घृणाशुद्ध बीभत्स होता है। यह नाक सिकोड़ना, मुँह फेरना (विकूणन) आदि अनुभावों से युक्त होता है तथा इसमें आवेग, व्याधि (आर्ति) शङ्का आदि (व्यभिचारी भाव) हुआ करते है।

बीभत्स कृमिपूतिगन्धिवम थुप्रायै र्जुगुप्सैकभू
रूद्वेगी रूधिरान्त्रकीकसवसामासादिभि क्षोभण ।
बैराग्याज्जजघनस्तनादिषु घृणाशुद्धोऽनुभावैर्वृतो
नासावक्त्र विकूणनादिभिरिहा वेगार्तिशङ्कादय ।।
दशरूपकम् 4/73

प्रस्तुत नाटक में इस रस के उदाहरण देखे जा सकते हैं। हम जानते हैं कि ससार में सबसे आकर्षक वस्तु कामिनी और कचन है। कामिनी से विराग होने के लिए उसके कुत्सित रूप का चित्रण कवि नारद और तुम्बुरू ऋषि द्वारा कराता है–

नारद – हन्त, जुगुप्सनीया सम्प्रति याषित सवृता ।

तुम्बुरु – उचितमेवेतत् ।

ब्रह्मेन्द्रपतिनन्द्यना वपुरप्सरसामपि ।

त्वगसृड् मासभेदोऽस्थिमज्जा शुक्लमय न किम् ।।

स सू 8/62

किच्,

वर्ष्मेद सप्तधातु त्रिविधमलमय योनियुग्म प्रसूत

चातुर्विध्योपपन्नस्थिरचरविविधाहार सारात्मक च।

इत्थत्वेऽनन्तदोषाकार इति मुनिभिर्घोषितायोषिदाख्या

मीमास्या मासरेतोरुधिरकफवसनिर्मिता चर्मभस्त्रा।।

स सू 8/63

इत्यादि द्वारा स्त्री को मास, रेत, रक्त,कफ आदि से निर्मित चमड़े की भाथी कहने में घृणा लगती है। यही साहित्य जगत् में जुगुप्सा पदवाच्य स्थायीभाव परिपुष्ट होकर बीभत्स रस के रूप में परिणत हो जाता है।

(ख) संकल्प सूर्योदय में अलङ्कार

प्रस्तुत नाटक में वेदान्त देशिक ने अलङ्कारो को यथोचित महत्त्व दिया है। अलङ् कार शब्द की व्युत्पत्ति है- 'अलङ् करोतिइतिअलङ् कार'। इसके अनुसार शरीर को विभूषित करने वाले अर्थ या तत्व का नाम अलङ् कार है। जिस प्रकार कटक, कुण्डल आदि आभूषण शरीर को विभूषित करते है इसलिए अलङ् कार कहलाते हैं उसी प्रकार काव्य में अनुप्रास, उपमा आदि काव्य के शरीर भूत शब्द और अर्थ को अलङ् कृत करते हैं इसलिए अलङ् कार कहलाते है। अलङ् कार अलङ् कार्य का केवल उत्कर्षाधायक तत्त्व होता है, स्वरूपाधायक या जीवनाधायक तत्व नहीं। जो स्त्री या पुरूष अलङ् कार विहिन है वह भी मनुष्य हैं। पर जो अलङ् कार युक्त है वह अधिक उत्कृष्ट समझे जाते है। इसी प्रकार काव्य में अलङ् कारों की स्थिति अपरिहार्य नही है। वे यदि हैं तो काव्य के उत्कर्षधायक होगें यदि नही है तो काव्य की कोई हानि नही होगी । इसलिए अलङ् कारों को काव्य का अस्थिर धर्म माना गया है। यही गुण तथा अलङ् कारों का भेदक तत्त्व है। गुण काव्य के स्थिर धर्म हैं, काव्य में गुणों की स्थिति अपरिहार्य है। परन्तु अलङ् कार स्थिर या अपरिहार्य धर्म नहीं हैं केवल उत्कर्षाधायक हैं। उनके बिना भी काव्य में काम चल सकता है। इसलिए काव्य के लक्षण में मम्मट ने 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ् कृती पुन क्वापि' लिखकर अलङ् कार रहित को भी काव्य माना है। इसी दृष्टि से उन्होने अपनी पुस्तक काव्य प्रकाश के अष्टम उल्लास में अलङ् कार का लक्षण करते हुए लिखा है-

(सूत्र 87) उपकुर्वन्ति त सन्त येऽङ् गद्वारेण जातुचित्।

हारादिवदलङ् कारास्ते नुप्रासोपमादय ।।

अर्थात् अलङ् कार 'जातुचित' कभी-कभी ही उस रस को अलङ् कृत करते हैं हमेशा नहीं। इसलिए ये काव्य के अस्थिर धर्म है। साहित्य दर्पण में भी अलङ् कार का लक्षण इसी आशय से निम्नलिखित प्रकार किया गया है-

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माश्शोभातिशायिन ।
रसादिनुपकुर्वन्तोऽलङ् कारास्तेऽङ् गदादिवत् ।। सा द 10/1

किन्तु अलङ् कारों को काव्य के अस्थिर धर्म मानने का सिद्धान्त सर्वमान्य नहीं है। यह केवल ध्वनिवादी सम्प्रदाय का दृष्टि कोण है। अलङ् कार सम्प्रदाय अलङ् कारों को काव्य का अपरिहार्य स्थिर तत्त्व मानता है। उसके मत में अलङ् कार रहित काव्य की कल्पना, उष्णतारहित अग्नि की कल्पना के समान ही उपहासयोग्य है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए महाकवि जयदेव ने अपने चन्द्रालोक में लिखा है-

अङ् गीकरोति य काव्य शब्दार्थावनलङ् कृति।
असौ न मन्यते कस्मात् अनुष्णमनल कृति ।।

अर्थात् जो आदमी (मम्मट) अलङ् कार विहीन शब्द और अर्थ को काव्य मानता है, वह उष्णताविहीन अग्नि को क्यों नही मानता है ?

प्राय सभी आचार्यो ने शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर माना है। अलङ् कार शरीर के शोभादायक होते हैं। इसलिए काव्य में शब्द और अर्थ के उत्कर्षाधायक तत्त्व का ही नाम अलङ् कार है। अर्थात् अलङ् कार का आधार शब्द और अर्थ है। इसी आधार पर शब्दालङ् कार अर्थालङ् कार और उन दोनों के मिश्रण से बने हुए

उभयालङ्कार इन तीन प्रकार के अलङ्कारों की कल्पना की गई है।

शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार का भेद शब्द के परिवर्तन सहत्व या परिवर्तनासहत्व के ऊपर निर्भर है। जहा शब्द का परिवर्तन करके उसका पर्यायवाचक दूसरा शब्द रख देने पर अलङ्कार नहीं रहता है वहा यह समझना चाहिए कि उस अलङ्कार की स्थिति विशेषरूप से उस शब्द के कारण ही थी। इसलिए उसे शब्दालङ्कार कहा जाता है। जहाँ शब्द का परिवर्तन करके दूसरा पर्यायवाचक शब्द रख देने पर भी उस अलङ्कार की सत्ता बनी रहती है, वहा अलङ्कार शब्द के आश्रित नहीं, अपितु अर्थ के आश्रित होता है, इसलिए उसको 'अर्थालङ्कार' कहा जाता है। इस प्रकार जो अलङ्कार शब्द परिवृत्ति को सहन नहीं करता वह शब्दालङ्कार और जो शब्दपरिवृत्ति को सहन करता है वह अर्थालङ्कार होता है।

इस प्रकार वेदान्तदेशिक के प्रस्तुत नाटक में रसानुकूल जो अलङ्कार अवतरित होते गये है, उनका प्रयोग उन्होने अनियत्रित रूप में किया है। इसलिए अर्थालङ्कार तो इस काव्य में भरे पड़े है। शब्दालङ्कारों के प्रयोग में उन्होंने अपनी प्रतिभा का परिचय तो अवश्य दिया है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वे शब्दालङ्कारों के अधिक प्रयोग के पक्ष में नही थे।

भाषा पर वेदान्तदेशिक का पूर्ण अधिकार था। इसी कारण भावों के अनुसार भाषा स्वय अवतरित होती गई है। तथा अलङ्कार उनके पोषण में समर्थ हुए है। वेदान्तदेशिक अति कठिन सन्दर्भ रूप सम्मत पदों के प्रयोग में जितने कुशल थे, उतने ही सिद्धस्त कोमल पदों के गुम्फन में भी थे। भावानुसार अति कठिन और अति कोमल पदावली का परित्याग करके मध्यम कोटि के पदों का प्रयोग भी उन्होने

बड़ी निपुणता से किया है। उनके इस गुण की प्रशसा विद्वज्जन सर्वदा करते रहे है।

गौडवैदर्भपाचालमालाकार सरस्वतीम्।

यस्य नित्य प्रशसन्ति सन्त सौरभवेदिन ।। स सू 1/12

इस प्रकार अलड् कार के विषय में सक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेने के पश्चात् प्रस्तुत नाटक के अन्तर्गत आए अलड कारों के लक्षण तथा उदाहरण प्रस्तुत किया जाएगा।

अनुप्रास

वर्णो की समानता (आवृत्ति का नाम) अनुप्रास[42] है। स्वरों का भेद होने पर केवल व्यजनों की समानता ही यहाँ वर्णो की समानता से अभिप्रेत है। रसादि के अनुकूल वर्णो का प्रकृष्ट सन्निवेश ही "अनुगत प्रकृष्टश्च न्यास" इस व्युत्पत्ति के अनुसार अनुप्रास कहलाता है। वर्णो की यह आवृति शब्द के आदि, अन्त या मध्य में भी हो सकती है। अनुप्रास अलड् कार के दो प्रमुख भेद है–
छेकानुप्रास और वृत्तनुप्रास ।

अनेक व्यजनों का सकृत् अर्थात् एकबार सादृश्य छेकानुप्रास है तथा एक वर्ण का या अनेक व्यजनों का एक बार या बहुत बार का सादृश्य अर्थात् आवृति वृत्यनुप्रास होता है[43] । छेकानुप्रास में व्यजनों की सकृदावृति होने के कारण उतना अधिक चमत्कारित्व नहीं आता है, जितना कि वृत्यनुप्रास में आता है।

प्रस्तुत नाटक में छेकानुप्रास का उदाहरण देखा जा सकता है–

भूपसीरपि कला कलकिता

प्राप्य कश्चिदपचीयते शनै ।

एकयापि कलया विशुद्धया योऽपि
कोऽपि भजते गिरीशताम् ।।

इस श्लोक में क, ल, च, क, प, भ आदि व्यजनों की सकृदावृति होने के कारण छेकानुप्रास है।

वृत्यनुप्रास का उदाहरण –

विटविदूषक गायक वैशिकै
विषमितेव विभाति वसुन्धरा ।
क्वनु निवेशमुपेत्य पर पद
विमृशता भवितत्यमिहक्षणम् ।।

स सू 6/39

तथा एक अन्य –

निकटेषु निशामयामिनित्य
निगमान्तैरधुनाऽपि मृग्यमाणम् ।
यमलाजुर्नदृष्ट बालकेलि
यमुनासाक्षिक यौवन युवानम् ।।

स सू 7/75

इन सुन्दर पदावली सम्पृक्त प्रसादगुणपूर्ण श्लोकों में व और न की असकृत आवृति अत्यत ही मनोहारी रूप में वर्णित है।

प्रस्तुत श्लोकों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि इस नाटक में वेदान्तदेशिक ने अनुप्रास अलङ्कार के प्रयोग में प्रवीणता प्राप्त की थी। क्योंकि इन जगहों में न तो भावबोधकता में कोई त्रुटि मालूम पड़ती है और नहीं रसानुभूति में ही बाधा होती है।

यमक अलङ्कार

काव्यप्रकाश में मम्मट ने इसके लक्षण में कहा है कि अर्थ होन पर (नियमेन) भिन्नार्थक वर्णों की उसी क्रम से पुन श्रवण यमक नामक अलङ् कार कहलाता है[44]।

प्रस्तुत नाटक में वेदान्तदेशिक ने यमक का प्रयोग न के बराबर किया है यदि कहीं स्वय आ गया है तो उसे निकालने का प्रयत्न भी उन्होंने नहीं किया है परन्तु यमक दिखाने के लिए उसका प्रयोग नही ही हुआ है यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है। इस तरह हम कह सकते हैं कि प्रस्तुत नाटक में यमक अलङ् कार के प्रयोग का कोई प्रयास नहीं किया गया है। फिर भी जो यमक अलङ्कार के रूप में इस नाटक में उदाहरण हैं उसे प्रस्तुत करना समीचीन है।

इसके पाद, पादाश, अर्धश्लोक और श्लोक की आवृति के कारण अनेक भेद हो जाते है[45] । कभी प्रथम पाद द्वितीयादि किन्हीं पादों में, द्वितीयपाद तृतीयादि पादों में, तृतीय पाद चतुर्थ पाद में अथवा प्रथम अन्य तीनों पादों में आवृत होता है। कभी प्रथम पाद चतुर्थ में और द्वितीय पाद तृतीय में आवृत होता है । इसी प्रकार पाद भी द्विधा विभक्त होकर विभिन्न रूपों में आवृत हुआ करता है। काव्यप्रकाशकार के अनुसार यह काव्य के अन्दर गाठ के समान है ।अत इसके भेद और लक्षण न करना ही उपयुक्त होगा[46] ।

सकल्प सूर्योदय में यमक का उदाहरण – द्वितीय अध्याय का यह श्लोक है–

नाथाश्लेषसनाथनश्रुति वधूवैधव्यखेदच्छिद

व्यासो हास रसोचितो विगलित प्राचीकशन्नैषचेत्।

प्रचीना नयपद्धति यतिपति प्राचेतसश्चेतस

क्लृप्त केलिशुकश्शुकस्स मुधा बाधाय बोधायन ।।

स सू 2/46

प्रस्तुत श्लोक के उतरार्द्ध में चेतस, शुक, धाय आदि वर्णसमूहों की आवृति हुई है। अत यहा यमक अलड्कार है।

एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत नाटक के पचम अक में भी देखा जा सकता है-

निरवधि गुणग्रामे रामे निरागसि वागसि-

स्फुरणभुषितालोका लोका वदन्ति सदन्ति के।

वरतनुहति वालिद्रोह मनागप सर्पण

परिमित गुणे स्पष्टयवद्येमुदा किमुदासतें ।।

प्रस्तुत श्लोक में रामे, गसि, लोका, दन्ति और मुदा वर्णसमूह की आवृति होने के कारण यमक अलड्कार है।

श्लेष अलड्कार

अर्थ का भेद होने से भिन्न-भिन्न शब्द (समानाकार होने से) एक साथ उच्चारण (रूप दोष घटित सामग्री) के कारण जब परस्पर मिलकर एक हो जाते है तब वह श्लेष अलड्कार होता है। यह अक्षर आदि के भेद से आठ प्रकार का होता है[47] ।

सकल्प सूर्योदय नाटक में श्लेष अलड्कार के अनेक सुन्दर स्थल विद्यमान हैं। यथा-

निर्धूत निखिल दोषा निरवधि

पुरूषार्थ लम्भन प्रवणा।

सत्कविभणितिरिव त्व

सगुणालङ्कार भावरसजुष्टा।। स सू 1/64

प्रस्तुत श्लोक में विवेक अपनी पत्नी सुमति को सत्कवि की उक्ति के समान कहता है क्योंकि वह निखिल दोष शून्य है पुरूषार्थ को प्राप्त करने के लिए तत्पर रहती है और गुण, अलङ्कार, रस तथा भावों से परिपूर्ण है। इसमें दोष, पुरूषार्थ, गुण, अलङ्कार, रस, भाव पदों के एक बार प्रयुक्त होने पर भी सुमति पक्ष में सशय विपर्ययादि दोष, मोक्ष, पुरूषार्थ, आर्जव आदि गुण हारादि अलङ्कार रसोपहित विषयानुराग अर्थ होता है, और सत्कवि भणिति के पक्ष में शब्दार्थगत दोष, यश आदि पुरूषार्थ, ओज प्रसादादि, गुण, उत्प्रेक्षा, उपमादि अलङ्कार निर्वेदादि भाव तथा श्रृगार आदि रस होगा। अत यहा श्लेष अलङ्कार है।

निम्नलिखित श्लोक में भी कस, उग्रसेन, कृष्ण तथा मोह पुरूष और विवेक पक्ष में शब्दों के एक बार प्रयुक्त होने पर भी भिन्न-भिन्न अर्थ किये जाते हैं।

मूलोच्छेदमयोज्झितेन महता मोहेन दुर्मेधसा

कसेन प्रभुरूग्रसेन इवन कारागृहे स्थापित ।

विख्यातेन विवेक भूमिपतिना विश्वोपकारार्थिना

कृष्णेनेव बलोतरेण घृणिना मुक्तश्रिय प्राप्स्यति

।। स सू 1/96

सकल्प सूर्योदय के नवम अड्क में भी श्लेष अलङ्कार का उदाहरण देखा जा सकता है-

बलदर्शनमण्डप श्रुतीना बहुभि-

र्भावितवैभव प्रमाणै ।

अवधुतरजस्तभस्कमेतत्

सुमतेस्तत्त्वमयविभातिसौधम् ।। स सू 9/51

पुनरूक्तवदाभास

श्री मम्मट ने काव्यप्रकाश में इस अलङ्कार के विषय में लिखा है कि भिन्न रूप से कहीं-कहीं दोनों सार्थक और कहीं दोनों या एक के अनर्थक शब्दों में आपातत समानार्थकता की प्रतीति जहाँ होती है वह पुनरूक्तवदाभास अलङ्कार होता है[48] । तथा वह शब्द तथा अर्थ दोनों में रहने वाला होता है। सकल्पसूर्योदय में इसका उदाहरण विद्यमान है यथा-

सार सारस्वताना शठरिपुभणिति शान्तिशुद्धान्तसीमा

मायामायामिनीमि स्वगुणविततिभिर्बन्धयन्ती धयन्तीं।

पार पारपरीतो भवजलधि भवन्मज्जनाना जनाना

प्रत्यक्प्रत्यक्षयेन्न प्रतिनियतरमासनिधान निधानम् ।।

स सू 6/61

यहा सार सार इत्यादि पदों में आपातत एकार्थ प्रतीति हो रही है अत यहा पुनरूक्तवदाभास अलङ्कार है।

उपमा अलङ्कार

काव्यप्रकाशकार मम्मट ने उपमा के लक्षण में लिखा है कि उपमान और उपमेय का भेद होने पर उनके साधर्म्य का वर्णन उपमा अलङ्कार कहलाता है[49] ।

सकल्प सूर्योदय में उपमा के अनेक उदाहरण वेदान्तदेशिक ने दिया है

जिसमें कुछ यहा प्रस्तुत है–

पत्यौ दूर गतवति रवौ पद्मनीव प्रसुप्ता
म्लानाकारा सुमुखि निभृता वर्तते बुद्धिरम्बा।।
मायायोगान्मलिनितरुचौ वल्लभे तुल्यशीला
राहुग्रस्ते तुहिनकिरणे निष्प्रभा यामिनीव ।।
स सू 1/74

अपने स्वामी सूर्य के दूर चले जाने पर सकुचित कमलिनी के समान बुद्धि अपने पति के दूर चले जाने पर (जडता आ जाने के कारण) निश्चेष्ट हो गयी है। चन्द्रमा के राहुग्रस्त हो जाने पर निष्प्रभ रात्रि के समान माया के सम्पर्क से मलिनकान्ति (तिरोहित आनन्द प्रकाशादि) पति–पुरुष में (बुद्धि) समान आचरण करती है।

यहा बुद्धि को कमलिनी और यामिनी के समान बताया गया है। अत यहा उपमा अलड्कार है।

इसी तरह उपमा आदि का प्रयोग करके अनेक गूढ़ रहस्य और सूक्ष्म तत्वों को स्पष्ट करने के लिए वेदान्त देशिक ने स्थान–स्थान पर प्रयास किया है। दार्शनिक दृष्टान्तिक हुआ करता है। दृष्टान्त के द्वारा वह सूक्ष्म बातों को लोगों के सामने प्रस्तुत करता है। जैसे उक्त श्लोक में ही देखिये। पुरुष के ससार में आसक्त हो जाने पर बुद्धि की क्या स्थिति होती है इसे समझना और समझाना साधारण व्यक्ति के वश की बात नहीं है। कमलिनी और यामिनी के सकोच, निष्प्रभता आदि धर्म से बुद्धि का सकोच और मालिन्य बड़े सरल शब्दो में स्पष्ट कर दिया गया जो कि सबकी समझ में आसानी से आ जाता है। एक अन्य श्लोक में उपमा का प्रयोग देखें–

मिषतो विलोभयन्ती मृगतृष्णाभिस्तरङ्गिताभिरसौ।

मरूभूमिरूज्झितरसा दुर्जनपरिषदिव दूरपरिहार्या ।।

स सू 6/40

पुन एक श्लोक में उपमा का प्रयोग–

प्रमाणप्रत्ययादत्र कल्पितान्यविकल्पत

अपि भूतानि भावीनि भवन्तीव भवन्ति न ।। स सू 7/5

इस प्रकार प्रस्तुत नाटक में अनेकों उपमा के उदाहरण भरे पड़े हैं।

उत्प्रेक्षा अलङ्कार

मम्मटाचार्य ने अपनी पुस्तक काव्यप्रकाश में उत्प्रेक्षा के लक्षण में लिखा है कि प्रकृत अर्थात् वर्ण्य उपमेय की सम अर्थात उपमान के साथ सम्भावना उत्प्रेक्षा कहलाती है[50] ।

सकल्प सूर्योदय के षष्ठ अड क के इस श्लोक में उत्प्रेक्षा का लक्षण प्रकट होता है–

प्रत्यङ् गकम्पपरिनर्तित कचुकेऽस्मिन्न्

पर्याप्तरूढपलिते परतन्त्रपिण्डे ।

अक्षीणरागमजरामरजीविताश

मामेव हन्त हसतीव ममान्तरात्मा ।।

स सू 6/4

एक अन्य श्लोक में उत्प्रेक्षा प्रकट हो रही है।

नैतेद्वाह्यैस्तूलिका वर्णकाद्यै

क्लृप्तं चित्र कितु संतोषलिप्ताम्।

नानाकारा भावनामेंव शिल्पी

शिल्पव्याजान्नूनमत्रोज्जगार ।। स सू 7/7

रूपक अलड्कार

काव्यप्रकाश में इसका लक्षण प्रस्तुत है जिसमें कहा गया है कि– अत्यन्त सादृश्य के कारण प्रसिद्ध भेदवाले उपमान और उपमेय का अभेद वर्णन रूपक अलड् कार कहलाता है[51] ।

रूपक अलड् कार के कई उदाहरण वेदान्तदेशिक कृत सकल्प सूर्योदय में दृष्टिगत है। यथा–

क्वापि कल्पान्तवेशन्ते खुरदघ्ने समुद्धृताम् ।

वहते मेदिनीमुस्ता महते पोत्रिणे नम ।। स सू 7/29

खुरप्रमाणे प्रलयोदधौ समुद्धृता मेदिनीरूपा मुस्ता तृणकन्दविशेष वहते महते पोत्रिणे महावराहाय नम । अत्रोदघे पल्वलत्वेन रूपणम् ।

रूपक का एक दूसरा उदाहरण –

दम्भोलिश्रेणिदीव्यत्खरनखरमुखक्षुण्णदैतेयवक्षो–

निष्ठ्यूतासृक्स्रवन्तीभरित दशदिशादर्शितापूर्वसध्य ।

स्वामिध्वसप्रकुप्यत्सुररिपुपृतनास्तोमरूप स एष

ब्रह्मस्तम्बैकचन्द्रो बहुभिरिह करैरन्धकार निरून्धे।।

स सू 7/38

यहा नृसिह और चन्द्रमा के रूप का अभेद वर्णन ग्रन्थकार बडे सुरूचि पूर्ण ढग से प्रस्तुत किया है।

समासोक्ति अलङ्कार

इस अलङ् कार के विषय में कहा गया है कि प्रकृत अर्थ के प्रतिपादक वाक्य के द्वारा श्लेषयुक्त विशेषणों के प्रभाव से न कि विशेष्य (पद) के सामर्थ्य से जो अप्रकृत का कथन है वह समास से अर्थात् सक्षेप से (प्रकृत तथा अप्रकृतरूप) दोनों का कथन होने से समासोक्ति अलङ् कार कहलाता है[52] सकल्प सूर्योदय में इसका उदाहरण आया है-

मुकुलयति वितित्सा मोहविध्वसमिच्छन्
विमृशति निगमान्तान् वीक्षते मोक्षधर्मान्।
निशमयति च गीता नित्यमेकान्तभक्त्या
गुणपरिषदवेक्षी गुप्तमन्त्रो विवेक ।।

स0सू01/61

निदर्शना अलङ्कार

काव्यप्रकाशकार के अनुसार जहा वस्तु का असम्भव या अनुपद्यमान सम्बन्ध (प्रकृत की अप्रकृत के साथ) उपमा का परिकल्पक होता हैं वह निदर्शना अलङ् कार होता है[53] ।

प्रस्तुत नाटक में इस अलङ् कार का उदाहरण देखा जा सकता है।-

सौहार्दमित्थमनवाप्य सहोदराणा-
मासीत्स्वमूलगुण भेदवशाद्विरोध ।
एक प्रजापतिभुवामपि वैरबन्ध
स्वात्मावधि. स्वयमुदेति सुरासुराणाम् ।।

स.सू 1/48

विनोक्ति अलङ्कार

मम्मट इस अलङ्कार के लक्षण में लिखा है कि जहा दूसरे के बिना दूसरा अर्थ सुन्दर न हो अथवा असुन्दर न हो वहा विनोक्ति अलङ्कार होता है[54]। सकल्पसूर्योदय में इसका उदाहरण देखे-

सौवाकृतिस्तव त एव गुणानुभावा
स्यादेव सागरसुता लिखिता त्वमेव।
शिजानमजुमणिनुपूरमेखलस्ते
सचार एष चतुरों यदि नान्तराय ।।

स सू 7/26

परिकर अलङ्कार

काव्यप्रकाशकार के अनुसार अभिप्राययुक्त विशेषणों के द्वारा जो किसी बात का कथन करना है वह परिकर अलङ्कार कहलाता है[55]। प्रस्तुत नाटक में इस अलङ्कार का उदाहरण निम्नलिखित है-

सत्त्वस्थान्निभृत प्रसादय सता वृति व्यवस्थापय
त्रस्यब्रह्ममविदागसस्तृणमिव त्रैवर्गिकान्भावय।
नित्ये शेषिणि निक्षिपन्निजभर सर्वसहे श्रसखे
धर्म धारय चातकस्य कुशलिन् धाराधरैकान्तिन ।।

स सू 2/38

उद्धरणानुक्रमणिका

1 श्रृगार हास्यकरूणरौद्रवीर भयानका । वीभत्साद्‌भुतसञ्ज्ञौ चेत्यष्टौ नाटये रसा स्मृता ।। भ0ना0 6/15
2 निर्वेद स्थायिभावोऽसित शान्तोऽपिनवमो रस । का0प्रा0 4/35
3 स्पुट चमत्कारितया वत्सल च रस विदु । सा0द0 3/357
4 ललितमनसा प्रीत्यै विभ्रदसान्तभूमिकामनवमगुणो यस्मिन्नाटये रसो नवम स्थित। स0सू0 1/3
5 असभ्य परिपाटिकामधिकरोति श्रृगारिता परस्पर तिरस्कृति परिचिनोति विरायितम्
विरूद्धगतिरद्‌भुतस्तदलमल्य सौर परै शमस्तु परिशिष्यते शमितचित्तेव दोरस ।। स0सू0 1/19
6 अन्येतु वस्तुतस्याभाव वर्णयन्ति अनादिकाल प्रवाहायातरागद्वेषयोरूच्छतुमशक्यत्वान । द0रू0 वृति 4/35
7 श्रृगारहास्यकरूणा रौद्रवीरभयानका। वीभत्साद्‌भुतसञ्ज्ञौ चेत्यष्टौ नाटये रसा स्मृता ।। भ0ना0 6/15
8 रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधात्साहो भय तथा। जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावा प्रकीर्तिता। भ0ना0 6/17
9 सर्वथा नाटकादावमिनयात्मनि स्थायित्वमस्माभि शमस्य निधिष्यते तस्य समस्त व्यापार प्रविलय
रूपस्याभिनयायोगात् । द0रू0 वृति 4/35
10 स0सू0 पृ0 1/19
11 स0सू0 पृ0 10/38
12 अथ शान्तोनाम शमस्थयायिभावात्मो मोक्ष प्रवर्तक मोक्षाध्यात्म समुत्थस्तत्वज्ञानार्थ हेतु सयुक्त ।
नै श्रेयसोपदिष्ट शान्तरसोनाम सम्भवति। एव नवरसा दृष्टा नाटयज्ञैर्लक्षणान्विता ।।
ना0शा0 पृ0 332 333 335
13 क्वचिद्धर्म क्वचित्क्रीडा क्वचिदर्थ क्वचिच्छम । ना0शा0 1/108
14 दु खार्ताना श्रमार्ताना शोकर्ताना तपस्विनाम। विश्रान्तिजनन काले नाटयमेतद्‌भविष्यति।। ना0शा0 1/114
15 न तज्ज्ञान न तच्छिल्प नसा विद्यानसाक्ला। नासौ योगा न तत्कर्मनाटयेस्मिन् यन्न दृश्यते।।
ना0शा0 1/116
16 भ0ना0 गायक0 द्वि0 अ0 पृ0 266
17 श्रृगार हास्य करूण रौदृवीर भयानका ।
वीभत्साद्‌भुत शान्ताश्च नवनाटयेरसा स्मृता ।। काव्यालाकार सार सग्रह पृ0 3
18 महाभारतेऽपि शान्तकाव्यस्वरूपच्छायान्वयिनि वृष्णिपाण्डव –
विरसावसान वैभनस्यदायिनीं समाप्तिमुपनिबघ्नता महामुनिना
वैराग्य जनन तात्पर्य प्राधान्येन स्वप्रबन्धस्सय दर्शयता मोक्ष
लक्षण पुरूषार्थ शान्तो रसश्च मुख्यतया विषक्षा विषयत्वेन सूचित । ध्वन्यालोक 4/5 वृति
19 तेन प्रथम रसा । ते च नव। शान्तापत्त्रायिन स्त्वटाविति तत्र पठन्ति। भा0ना0 पृ0267 गायक0 द्वि0आ0
20 ना0शा0 पृ0 267 गायक । द्वि0आ0
21 तत्र शान्तस्य स्थायी विस्मयशमा इति कश्चित् पठन्ति। उत्साह स्वास्य स्थायीम्यन्ये जुगुप्सेति केचित् सर्व
इत्येके तत्वज्ञानज निर्वेदोऽस्य स्थायी। एतदर्थमेवो भय धर्मोपजीवितत्य ख्यापनामामगल भतोऽप्यसौ पूर्व
निर्दिष्टो व्यभिचारिब्बाभिनयत्वोपजीवका इति सात्विका स्थयिषुच सख्या नोक्तेत्य परे अतएव स्थामिन एते तु
व्यभिचारिणोऽपि भवन्ति । भा0ना0 पृ0 268
22 ना0 श0 पृ0 333
23 ना0 श0 पृ0 339
24 काव्यप्रकाश 4/35
25 साहित्यदर्पण 3/182 3/245–48
26 श्रृगारहास्योकरूणो रौद्रो वीरो भयानक । वीभत्सश्चाद्‌भुत शान्तो नवधेति रसोमत ।।
सगीत रत्नाकर 7/1369
27 सगीत रत्नाकार 7/1370–74
28 श्रृगार करूण शान्तोरौद्रो वीरोऽद्‌भुतस्थता हास्यो भयानकश्चैव वीभत्सश्चेति ते नव।।
29 मुनिवचन चात्र प्रमाणम् । र0ग0पृ0 121
30 रसगगाधर । पृ0 122–123
31 सगतिरत्नाकरे अष्टावेव रसनाटयेष्विति के चिद्‌चुदन्। तद चारू यत काचिन्न रस स्वदतेनट
र0गा0 पृ0 124
32 स्व स्व निमित्तभासाद्य शान्तादुत्पद्यते रस। पुनर्निमिता पाये तु शान्त एव प्रलीयते।। ना0शा0 पृ0 335
33 ललितमनसाप्रीत्यै विभ्रदशान्तरभूमिकामनवमगुणो यस्मिन्नाटये रसोनवम स्थित।। स0सू0 1/3
34 स0सू0 1/18
35 ध्वन्यालोक 3/26

36 स0सू0 पृ0 49

37 नटी तथापितकथ निष्पन्दनिखिलकरण निष्पादनीय योगप्रधान एष सर्वजन प्रेक्षणीयेन नाटकवृत्तान्तेन सम्पाद्यत । स0सू0 पृ0 49

38 स0सू0 पृ0 49

39 कार्यमित्येव यत्कर्म नियत क्रियतेऽर्जुन। सग त्यक्त्वा फल चैव सत्याग सात्विकोमत ।। भ0गी0 18/9

40 स0सू0 1/19

41 तर्कव्याकृतितन्त्रशिक्षितधिय पक्षेषुबाहेष्वपि प्रतयक्षीकृतपौरूषा वयममी मध्येसम ब्रूमहे।
वादाटापमुपेयुष प्रतिभटानासेतुहिमाचल तूलायापि तृणाय वा न च तुषच्छेदायमन्यामहे।। स0सू0 2/42

42 वर्णसाम्यमनुप्रास । का0प्र0 9/79

43 साऽनकस्य सकृत्पूर्व एकस्याप्यसकृत्पर । का0प्र0 9/79

44 अर्थेसत्यर्थ भिन्नाना वर्णना सा पुन श्रुति यमकम्।। का0प्र0 9/83

45 पादतद्भागवृत्ति तद्यात्यनेकताम् । का0प्र0 9/83

46 तदतत्काव्यान्तर्गड्भूतम् इति नास्य भेदलक्षण कृतम् । का0प्र0

47 वाच्य भेदेन भिन्ना यद् युगपद्भाषणस्पृश । श्लिष्यन्ति शब्दा श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा।। का0प्र0 9/84

48 पुमरूक्तवदाभासो विभिन्नाकारशब्दगा । का0प्र0 9/86

49 साधर्म्यमुपमा भेदे। का0प्र0 10/87

50 सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्। का0प्र0 10/92

51 तद्रुपकमभेदो य उपमानोपमेययो । का0प्र0 10/93

52 परोक्तिर्भेदकै श्लिष्टै समासोक्ति । का0प्र0 10/97

53 निदर्शना अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पक । का0प्र0 10/97

54 विनोक्ति सा विनाऽन्येन यत्रान्य सन्न नेतर । का0प्र0 10/113

55 विशेषणैर्यत्साकूतैरूक्ति परिकरस्तु स । का0प्र0 10/118

पंचम अध्याय

संकल्पसूर्योदय में दर्शन

(क) विशिष्टाद्वैत दर्शन

(ख) तत्त्वाविचार

(ग) साधनाक्रम

(घ) परमत खण्डन

(ङ) बौद्ध दर्शन

(च) जैन दर्शन

(छ) लोकायत और चार्वाक दर्शन

(ज) पाशुपत दर्शन

(झ) साख्य योग दर्शन

(ञ) मीमासा दर्शन

(ट) अद्वैत दर्शन

(ठ) द्वैताद्वैत दर्शन

सकल्पसूर्योदय में दर्शन

सकल्पसूर्योदय नाटक पूर्णत दार्शनिक एवम् आध्यात्मिक है। इसमें भगवान् रामानुजार्चाय के द्वारा प्रवर्तित विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय का सम्यग्विवेचन नाटकीय शैली में किया गया है। यह रचना वेदान्तदेशिक के अनुसार न केवल शान्त चित्त सन्तों को ही प्रिय है, अपितु ससारी प्राणियों को भी अभीष्ट है।

श्रुति विहार जुषा धिया
सुरभितामिह नाटक पद्धतिम्।
मुहुरवेक्ष्य विवेकमुपध्यन्
मतमपश्चिमयामि विपश्चिताम्।। स0सू01/7

इस काव्य की रचना प्रारम्भ करने के पूर्व वेदान्तदेशिक ने न केवल अन्यान्य विद्याओं का अध्ययन कर चुके थे, अपितु तीस बार शारीरिक भाष्य का अध्यापन भी कर चुके थे।[1] वे न केवल विशिष्टाद्वैत दर्शन के महापण्डित थे अपितु सभी दार्शनिक सिद्धातो पर दुर्वादिकृत आक्षेपों के प्रशमन में अप्रतिहत बुद्धि भी थे।[2] वे श्री रगराज भगवान् की दिव्याज्ञा से वेदान्ताचार्य पद पर अधिष्टिठत हो चुके थे, कवि तार्किक सिह विरूद से विभूषित होकर शिष्यों द्वारा विजय वैजयन्ती से दशों दिशाओं को अलकृत कर चुके थे।[3]

प्रस्तुत ग्रथ के रचना के समय तक अद्वैत दर्शन भारतीय दर्शनों के चूड़ापद पर अधिष्ठित हो चुका था, अत वेदान्त देशिक ने अद्वैत दर्शन का ही विशेष खण्डन करके स्वसिद्धात स्थापन द्वारा विशिष्टाद्वैत की

मूर्धन्यता स्थापित की। सक्षेप में उन्होंने चार्वाक, जैन, बौद्ध, न्याय, वैशेषिक, साख्ययोग, मीमासा, पाशुपत आदि समस्त मतों का भी खण्डन किया है। प्रस्तुत अध्याय में सर्वप्रथम श्रीवेदान्तदेशिक द्वारा प्रतिपादित विशिष्टाद्वैत दर्शन पर विचार करके तदनन्तर अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों के विषय में विचार किया जाएगा ।

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि काव्य का अध्ययन प्रस्तुत करते समय दार्शनिक सिद्धान्तो के विवेचन की क्या आवश्यकता है ? परन्तु यदि देखा जाय तो प्रस्तुत काव्य के विषय में उपर्युक्त कथन चरितार्थ नहीं होगा । प्रस्तुत काव्य में न केवल दर्शन झलकता है,अपितु विशिष्टाद्वैत दर्शन की स्थापना के लिए उन्होनें इस काव्य को माध्यम बनाया है। ऐसा माना जाता है कि साधारण व्यक्ति दर्शन के गूढ़ रहस्यों को न तो समझना चाहते हैं और न समझ ही सकते हैं। उन्हें सरल एव सुबोध रीति से दार्शनिक तत्त्वों को समझाने के लिए ही वेदान्तदेशिक ने काव्य को साधन बनाकर नाट्यमुखेन लोक के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। अत प्रस्तुत काव्य में दार्शनिक विवेचन की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। यदि यह कहा जाय कि दार्शनिक विवेचन किये बिना इस काव्य का अध्ययन अपूर्ण ही रह जाएगा तो अनुचित न होगा।

(क) विशिष्टाद्वैत दर्शन-

विशिष्टाद्वैत दर्शन का विवेचन करने से पूर्व इस शब्द पर भी विचार कर लेना उपयुक्त है। 'द्वयोर्भाव द्विता द्वितैव द्वैतम् अर्थात् भेद । न द्वैतम् अद्वैतम् अभेद इत्यर्थ । विशिष्टस्य अद्वैतम् विशिष्टाद्वैतम्। अर्थात् समस्त चेतनाचेत विशिष्टस्य ब्रह्मण एकत्वम् इस अभ्युपगम के

कारण रामानुजीय मत को विशिष्टाद्वैत कहा जाता है। वस्तुत यह सिद्धान्त भेद मूलक है। चेतन (जीव) अचेतन (प्रकृति) और ईश्वर तीन तत्त्व हैं किन्तु समस्त चेतनाचेतन विशेषणों से विशिष्ट होने के कारण ब्रह्म एक ही तत्त्व माना जाता है। इसमें विशेषण और विशेष्य तथा विशेषणों में आत्यन्तिक भेद रहने पर भी विशिष्ट वस्तु की एकता एव प्राधान्य इत्यादि की विवक्षा करके शास्त्रों में एकत्व व्यवहृत होता है तथा ब्रह्मेतर का निषेध किया जाता है। ऐसा न मानने पर सभी प्रमाणो में विरोध उपस्थित होने लगेगा।

कुछ विद्वान् विशिष्ट च विशिष्ट च विशिष्टे (इसमें विशिष्टे पद से सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म और स्थूलचिदचिद्विविशिष्ट ब्रह्म का बोध होता है) विशिष्ट्योरद्वैतम् विशिष्टाद्वैतम् इत्यादि विग्रह करते हैं। इसके अनुसार सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म और स्थूलचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म की एकता प्रतिपादित होने के कारण विशिष्टाद्वैत कहा जाता है। इस तरह विग्रह करने में कोई विशेष स्वारस्य नहीं है, पूर्व विग्रह (विशिष्टस्य अद्वैतम्) ही अधिक समीचीन है, क्योंकि एकमात्र ब्रह्म सत्य है। इसके अतिरिक्त सब कुछ मिथ्या है, ऐसा कहने वाले अद्वैती वेदान्ती ब्रह्म में चिदचिद्विशिष्टता नहीं स्वीकार करते है। जगत् एव ब्रह्म की सत्यता को स्वीकार करने वाले द्वैतवादी वेदान्ती भी चेतनाचेतन तथा ब्रह्म में पाल्यपालक भाव सम्बन्ध के अतिरिक्त ऐक्य कथन योग्य कोई सम्बन्ध विशेष नहीं स्वीकार करते हैं। अत उनके द्वारा भी ब्रह्म में चिदचिद्विशिष्टता नही स्वीकार की जाती । सिद्धान्त में तो चिदचिदात्मक प्रपच और ब्रह्म की सत्यता स्वीकार करके उनमें ऐक्य कथनोपपादक शरीर शरीरिभाव रूप सम्बन्ध विशेष स्वीकार करने के कारण जिस प्राकर लोक में शरीर और जीवात्मा में अत्यत भेद होने पर भी "चैत्र

एक है" इत्यादि व्यवहार देखा जाता है उसी प्रकार यहा भी चिदचिच्छरीरक ब्रह्म का एकत्व कथन और परस्पर स्वरूप भेद उत्पन्न होता है। इस प्रकार लोक में दृष्टात मिलने से निरूपण में सौष्ठव होने के कारण विशिष्टस्य अद्वैतम् विशिष्टाद्वैतम् कथन ही उपयुक्त है।

प्रस्तुत काव्य में प्रतिपादित दर्शन पर विचार करने के पूर्व यह आवश्यक है कि विशिष्टाद्वैत दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों को समझ लिया जाय। एक ही सिद्धान्त को मानने वाले आचार्यो के मत में भी अल्पाधिक भेद प्राय देखा जाता है। अत इस दर्शन के प्रमुख सस्थापक श्री रामानुजाचार्य विरचित ग्रन्थ 'वेदार्थ सग्रह' और 'ब्रह्मसूत्रभाष्य' (श्रीभाष्य) के आधार पर प्रमुख मान्यताओं का ज्ञान प्राप्त करना अधिक समीचीन होगा।

अभी हमने ऊपर वर्णन किया है कि समस्त चेतनाचेतन विशेषणों से विशिष्ट ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व है। वही प्रमेय है। अत उसका स्वरूप जान लेना आवश्यक है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से प्रतीत होने वाला यह प्रपच चेतन और अचेतन पदार्थो से परिपूर्ण है। अन्तर्यामी भगवान् ही चेतनाचेतनमय प्रपच की सृष्टि, स्थिति और प्रलय करने वाले तथा वद्ध चेतनों को ससार से छुड़ाकर आनन्दमय मोक्ष प्रदान करने वाले है। सभी दोषों से दूर रहने तथा आश्रितों का कल्याण करते रहने के कारण सभी पदार्थो से विलक्षण है। असीम और पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए असख्य कल्याण गुणों से युक्त हैं। सर्वात्मा, परब्रह्म और परज्योति कहे जाते है परतत्त्व, परमात्मा, सत,भगवान्, पुरूषोत्तम, नारायण आदि विविध रूप में उपनिषदों में वर्णित हैं। भगवान् ही सबके अन्दर रहकर सबका नियमन करते है। अत सर्वेश्वर एव अन्तर्यामी कहलाते है[4]। वह जगत् निमित्त एव उपादान कारण है[5]।

पर ब्रह्म ही सर्वज्ञ, सर्वशक्तिसत्यसकल्प, अवाप्त, समस्त काम होते हुए भी लीलार्थ विचित्र अनन्त चिदचित् मिश्र जगत् रूप में ही बहुत हो जाऊँ। इसलिए वैसा उत्पन्न होऊँ, इत्यादि सकल्प करके अपने एक अश से ही विपदादि भूतों की सृष्टि करता है[6]। शरीरात्मभाव को लेकर प्रपच का ब्रह्मात्मकत्व है[7]। प्रलय एव सृष्टि काल में ब्रह्मचेतनाचेतन विशिष्ट होकर ही रहता है[8]। फिर भी परमात्मा निर्विकार ही रहता है क्योंकि प्रकृति विशिष्ट परमात्मा में विशेषणाश के रूप में रहने वाली प्रकृति में सब तरह के विकार होते रहते हैं, विशेष्याश के रूप में अवस्थित परमात्मा में कोई भी विकार नहीं लगता। इसी प्रकार जीव विशिष्ट परमात्मा में विशेषणाश बने हुए जीवात्मा में सब तरह के दु ख इत्यादि दोष होते है,किन्तु विशेष्याश परमात्मा नियन्ता, निर्दोष, सर्वकल्याण गुणाकर और सत्य सकल्प ही रहता है[9]।

भगवान् का स्वरूप समझने के पश्चात् आत्मा और शरीर का लक्षण जानना आवश्यक है। जिन दो पदार्थो में,एक–दूसरे का आश्रय लेकर ही रहता है, दूसरा आधार बनकर उसकी स्थिति बनाए रखता है। उनमें आधेय बनने वाला पदार्थ आधार को छोड़कर नही रह सकता । उन दोनों पदार्थो में आधार एव धारक बनने वाला चेतन आत्मा कहा जाता है, उसके द्वारा सदा धृत रहने वाला पदार्थ चाहे वह चेतन हो या जड़ शरीर कहा जाता है। इनमें शरीरात्मभाव सम्बन्ध माना जाता है। आत्मशरीर भाव का लक्षण पृथकसिद्ध्यनर्हाधाराधेय भाव, नियन्तृनियाम्यभाव और शेषिशेषभाव है। आत्मा शब्द की व्युत्पति है 'आप्नोतीति आत्मा' अर्थात् व्यापने वाला आत्मा है। जब तक बने रहें तब तक आधेय नियाम्य एव शेष बनकर रहने वाले द्रव्यों को जो आध ार, नियामक एव शेषी बनकर अपनाता रहता है, उनमें व्यापक होकर

रहता है वह आत्मा है। जो जब तक बना रहे तब तक आधेय नियाम्य एव शेष बनकर दूसरे को छोड़ने में असमर्थ होकर दूसरे का आश्रय लेकर रहता है वह द्रव्य शरीर कहा जाता है[10]।

त्रिगुणात्मिका दैवी माया के पजे में फसा हुआ जीव ससार मेंगमनागमन का क्लेश भोगता रहता हैं। कर्मकृत विचित्रगुणमयी प्रकृति ससर्ग रूप ससार से जीवात्मा के मुक्त होने के लिए भगवत् शरणागति के बिना अन्य कोई उपाय नहीं है[11]। इसे ही विस्तार से रामानुज कहते हैं कि जो साधक निष्काम भाव से अपार सुकृतों को करता रहता है, उनसे उसके अनेक जन्मों में किये गये पापों की राशि नष्ट हो जाती है। उस साधकको ससार से विरक्ति एव श्री भगवान् को प्राप्त करने के लिए उत्कण्ठा होती है। वह मोक्षसाधन की निर्विघ्न समाप्ति के लिए सर्वप्रथम प्रभु के चरणारविन्दों की शरण में चला जाता है। शरण में जाते ही वह साधक भगवान् का आभिमुख्य प्राप्त कर लेता है। वह सदाचार्य की शरण में जाकर उनका उपदेश सुनता है। सदाचार्य के उपदेश से अधीत एव अनधीत समस्त शास्त्रों का अर्थ यथार्थ रीति से हृदय में उतर जाता है। फिर प्रतिदिन उसके आत्म गुण–शम, दम, तप, शोच, क्षमा, आर्जव, भयस्थानविवेक, अभयस्थानविवेक, दया, अहिंसा इत्यादि विकसित होने लगते है। वह शास्त्र द्वारा निषिद्ध कर्मो को त्याग देता है, वर्ण और आश्रम के अनुसार नित्य और नैमित्तिक कर्मो को श्री भगवान् का आराधन समझकर करता रहता है, इनमें उसकी निष्ठा बढ़ती रहती है। वह श्री भगवान् के चरणारविन्दों में आत्मीय पदार्थो को समर्पित कर देता है। भगवान् की भक्ति से प्रेरित होकर वह साधक सर्वदा भगवान् की स्तुति करता रहता है भगवान् का गुणानुवाद उसका स्वभाव बन जाता है। वह भगवान का स्मरण,

नमस्कार, वन्दन करता ही रहता है भगवान् के लिए पुष्पोद्यानादि निर्माणार्थ प्रयत्न करने में उसे आनन्द आता है। श्री भगवान् का कीर्तन, भगवत्-कल्याण गुणों का श्रवण एव प्रवचन श्री भगवान् का निरन्तर ध्यान अर्चन और प्रणामादि करने में वह अपने को कृतकृत्य समझता रहता है। इस प्रकार भक्ति से प्रेरित होकर साधनानुष्ठान करने वाले के प्रति परमकारूणिक श्रीमन्नारयण प्रसन्न हो जाते हैं। उनके अनुग्रह के प्रभाव से साधक के अन्त करण में अनादिकाल से रहने वाला रजस्तमोगुणरूपी अन्धकार सदा के लिए नष्ट हो जाता है। चित्त की मलिनता दूर रहने पर वह साधक निर्मलचित्त से भगवान् के दिव्यात्म स्वरूप का निरन्तर अनुसन्धान करने लगता है। यह अनुसन्ध ान ही समाधि है। यह स्मरण धारा साधक को अत्यत प्रिय लगती है वह इसे छोड़ना नहीं चाहता। यह स्मरण धारा बढ़ते-बढ़ते इतना विशद शब्द बन जाती है कि प्रत्यक्ष के समान रूप धारण कर लेती है। ध्यान के बाद होने वाले इस प्रेममिश्रत प्रत्यक्षसमानाकार वाली विशद्तम समाधि रूपिणी पराभक्ति के द्वारा ही श्री भगवान् प्राप्त होते हैं[12]। उपयुक्त साधना ही भगवत् प्राप्ति (मोक्ष) का उपाय है।

रामानुजाचार्य्र मत के अनुसार ब्रह्मा, रूद्रादि देव भी जीव हैं। क्योंकि वे भावनात्रय कर्मभावना अर्थात् कर्म करने में उद्योग ब्रह्मम भावना अर्थात् ईश्वरोपासना करने में उद्योग और उभय भावना से सम्बद्ध है। तथा कल्याणकारित्वायोग्यता युक्त है[13]। उनमें अन्तर्यामी रूप से नारायण अवस्थित है[14]। ब्रह्मा और शिव श्री भगवान् के द्वारा दिखाये गये मार्ग पर चलते हुए सृष्टि और सहार करते है[15]। इस प्रकार सक्षेप में रामानुजीय दर्शन पर विचार कर लेने के पश्चात् वेदान्तदेशिक द्वारा प्रस्तुत सकल्प सूर्योदय में प्रतिपादित उसके स्वरूप

का विवेचन जरूरी है।

(ख) तत्त्वविचार–

नाटककार की दृष्टि से वेदान्त अर्थात् उपनिषद् का तात्पर्य विशिष्ट–अद्वैत तत्त्व के प्रतिपादन में है। चित् और अचित् विशिष्ट ब्रह्म ही एक मात्र अन्तिम तत्व है। यह, ब्रह्म, ईश्वर, परमेश्वर, परब्रह्म या परमात्मा भी कहा जाता है। चित् और अचित् प्रकार या विशेषण है ईश्वर प्रकरी अर्थात् चिदचिद्विशिष्ट है[16]। यह प्रकारता क्या है ? अपृथक् (अथवा अविभक्त) सम्बन्ध से शरीर होना ही चिदचित् की प्रकारता है। अर्थात चिदचित् शरीर है और ब्रह्म शरीरी। इस प्रकार 'विशिष्टस्य (चिद्चिद्विशिष्टस्य) ब्रह्मण अद्वैतम्' यह विशिष्टाद्वैत शब्द का अर्थ हुआ। प्रकार भूत चित् और अचित् प्रकारीभूत ब्रह्म से अत्यन्त विलक्षण होने के कारण ब्रह्म से भिन्न भी हैं। चित् और अचित् भी परस्पर भिन्न स्वरूप हैं। चित् भी आपस में भिन्न होते हैं। वैसे ही अचित् भी।

जीव चेतन है, अणु है, वह 'अहमिति' प्रतीति से सिद्ध होता है। वह स्वय प्रकाश है[17]। वह पाप पुण्यदि का कर्ता होता है[18]। उसका कर्तृत्व परम पुरुष ईश्वर के अधीन है। जीव प्रतिशरीर भिन्न और नित्य है। नित्य होने पर भी देह के सम्बन्ध से उत्पति विनाश शील कहा जाता है। जीव तीन प्रकार के होते हैं। बद्ध, मुक्त और नित्य। कर्मपरवश ससारी जीव बद्ध कहलाते हैं[19]। कुछ दिन तक ससारी रहकर भक्ति और प्रपत्ति के द्वारा समाराधित भगवान् के सकल्प से ससार से निवृत जीव मुक्त कहलाते हैं। कुछ ऐसे अनन्त ओर गरुड आदि जीव भी है जो सदा भगवद्नुभव और भगवत्कैड्कर्य

परायण रहते हैं। कभी ससारी नहीं बनते वे नित्य कहलाते हैं।

ईश्वर विभु और चेतन हैं । वही परपुरूष, नाथ, ब्रह्म, विष्णु, केशव है[20]। वह सर्वशरीरी है[21]। सम्पूर्ण चिद्चिदात्मकजगत् में अन्तर्यामी होकर व्याप्त है[22]। यह चिदचिद्विशिष्ट वेश से जगत् का उपादान हैं, कालादि रूप से सहकारि कारण है। स्वय अविकारी है। प्रकार भूत चिदचिदन्स में परिणाम होता है। उनमें भी अचिदन्श में स्वरूपविकार होता है और चिदन्श में धर्मभूत ज्ञानाश में परिणाम होता है धर्मीभूत ज्ञानाश में नहीं। उसकी निमित्त कारणता स्वरूपत हैं। यह ईश्वर अद्वितीय है। इस प्रकार निमित्तान्तर राहित्य है। इसलिए यह जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है[23]। 'सत्यम् ज्ञान मनन्त ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध है कि ब्रह्म सत्यत्वादि विशिष्ट है। अत ब्रह्म सविशेष ही है निर्विशेष नहीं। वह अनन्त कल्याण गुणनिधि है और अस्पृष्टदोषगन्ध भी। श्रुति स्मृति आदि में जहा कही उसे निर्गुण कहा गया है उसका तात्पर्य हेयगुण निषेधपरक लगाना चाहिए। जहा सगुण कहा गया है उसका अर्थ है स्वाभाविक ज्ञान, शक्ति इत्यादि कल्याणमय-गुण-वैशिष्ट्यपरक ही है।

यह ईश्वर पर, व्यूह, विभव, अर्चा और अन्तर्यामी रूप से पाच प्रकार से प्रतिपन्न है। श्री वैकुण्ड में श्रीभूति नीला सहित परब्रह्म, पर वासुदेव और नारायण शब्द से वाच्य 'पर' रूप ईश्वर है। वही उपासनादि के लिए वासुदेव, सकर्षण, प्रद्युमन और अनिरूद्ध के भेद से चार व्यूहों में अवस्थित होकर 'व्यूह' रूप कहलाता है। केशवादि व्यूह के ही अवान्तर भेद हैं। मत्स्यादि अवतारविशेष उसके 'विभव' रूप है। स्वय दैव सैद्ध एव मनुष्यादि भेद से देवात्यादि में पूजित होने वाले मूर्ति विशेष के रूप में वह अर्चा है। समस्त चिदचिदन्तव्याप्त होने वाला

सदा सन्निहित स्वरूप विशेष में वह अन्तर्यामी कहलाता है। अणु रूप जीव में वह कैसे व्याप्त है? इसका समाधान उसकी अघटित घटना शक्ति में है[24]। या फिर उससे अप्रविष्ट भाग का जीव में न होना ही या दशमिक सम्बन्ध ही उसका अन्त प्रवेश है। रजस्तम से असंसृष्ट शुद्धसत्वा उसकी नित्यविभूति है जोकि अचेतन होने पर भी स्वयप्रकाश होने के कारण ज्ञानात्मिका है। यह नित्यमुक्त और ईश्वर के इच्छानुरूप शरीररादिरूप से रहती है। वह सबका स्वामी हैं सब उसका शरीर है[25]।

शुद्धसत्वमय श्री वैकुण्ठ को प्राप्त जीव का निदु खनिरतिशय आनन्द रूप भगवान् के अनुभव एव भगवत्कैड् कर्यरूप मोक्ष होता है। वह स्वत्मानुभव कैवल्य नहीं है क्योंकि इसमें तो केवल परिमित आनन्द ही प्राप्त होता है। यह दशा जीवित दशा में प्राप्त ही नहीं हो सकती इसलिए 'जीवन्मुक्ति' नाम की कोई दशा नही मानी जा सकती है। ब्रह्मसायुज्य[26] लक्षण मोक्ष की मान्यता की गई है।

महदादि अवस्थाओं वाला त्रिगुण होता है। परस्परमिश्रित सत्वरजस्तमस्कत्वेन इसे त्रिगुण कहते हैं[27]। विचित्र सृष्टि में उपकारक होने के कारण इसे 'माया'[28] महदादि विकारों की प्रकृति होने के कारण इसे मूलप्रकृति, विद्या विरोधी होने के कारण अविद्या भगवत् लीला का उपकरण होने के कारण लीलाविभूति, सर्वप्रपच का प्रधान कारण होने से 'प्रधान' और अतिसूक्ष्म तथा गुणों की साम्यावस्था के अस्फुट होने के कारण इसे 'अव्यक्त' भी कहते हैं। अवस्था भेद से यह प्रकृति महान, अहड् कार एकादशेन्द्रिय, पंचतन्मात्रा और पचमहाभूत रूप में 24 प्रकार का होता है। इसकी प्रारम्भिक अवस्था में भी मात्राभेद से चार भेद किए जाते हैं (1) अव्यक्त (2) अक्षर (3) विभक्ततम और (4) अविभक्ततम। गुणत्रय की साम्यावस्था 'अव्यक्त' है। इसी अवस्था में

होते हैं।

(ग) साधनाक्रम–

मोक्ष साधन रूप से भक्ति[29] और प्रपत्ति[30] स्वीकार की गई है। भक्ति और प्रपत्ति से भगवान् विष्णु प्रसन्न होते हैं और प्रसन्न होकर पुरूष को मुक्त करने का सकल्प करते हैं, यही भगवत् सकल्प[31] ही पुरूष को ससार से मुक्त कराने में समर्थ होता है। मुक्ति के साधनभूत इन उपायों के प्रयोग से मुक्ति की प्राप्ति तथा अवान्तर विघ्नवाधाओं का शमन ही इस नाटक का वर्ण्य विषय बनता है। पुरूष, सुमति सहित विवेक के द्वारा प्राकृत तथा वैषयिक सुखों से विमुख होकर समाधि में लीन होने का यत्न करता है। समाधि प्राप्ति के लिए त्रैगुण्य निरास करने में ईश्वर प्रपत्ति उसकी सहायता करती है। विरक्ति और विष्णुभक्ति भी उसकी सहायक होती है, नित्य और नैमित्तिक कर्मो को करता हुआ निषिद्ध तथा काम्यकर्मो को छोडता हुआ योग का अभ्यास करता है। उसकी परासिद्धि के विरोधी अन्तराय बीच–बीच में आते हैं। उनमें वह नहीं फसता। उसका विवेक, काम, क्रोध, लोभ, दम्भ, दर्प इत्यादि को परास्त करता है[32]। समाधि साधना के लिए उपयुक्त स्थल हृदयगूहा ही है। इसलिए तीर्थादि की उपयोगिता उसमें नहीं है[33]। धीरे–धीरे भगवान् विष्णु के दशावतार में से किसी एक को आलम्बन बनाकर उसका निदिध्यासन सिद्ध होता है[34]। सालम्बन समाधि पर आरूढ साधक का विवेक काम, क्रोध, मोहादि का ध्वस कर डालता है[35]। फलत साधक का भक्ति प्रावण्य और अधिक बढ़ता है। कर्म नाम की अविद्या विनष्ट कामादि को फिर से उभाड़ने की चेष्टा करती है। किन्तु साधक भगवान् की शरण में जाकर वर्णाश्रम धर्म के

अनुकूल उपासना करता रहता है। विनिष्पन्न समाधि साधक की इस उपासना से प्रसन्न भगवान् इसको मुक्त करने का सकल्प करते हैं। इस सकल्प रूपी सूर्य के उदय होने से योगी को परमपद की प्राप्ति अर्चिरादि र्माग से होती है[36]। यह मोक्ष ब्रह्म सायुज्य रूप का होता है[37]। इसमें निरतिशय ब्रह्मानन्द का अनुभव होता रहता है। मोक्षदशा में ब्रह्मानन्दानुभव एव तत्कैंकर्य उभयरूप मुक्ति होती है।

(घ) परमतखण्डन–

श्री वेंकटनाथ ने इस नाटक में विशिष्टाद्वैत दर्शन के अतिरिक्त उस काल तक भारत में प्रचलित प्राय सम्पूर्ण दार्शनिक सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों की उद्भावना करके उनका खण्डन वेदान्तदेशिक को उतना अभीष्ट नहीं था जितना कि विशिष्टाद्वैत दर्शन की स्थापना। अत निम्नलिखित दर्शनों में कुछ का तो उन्होंने नामोल्लेख करके ही खण्डन कर दिया है और कुछ दर्शनों के मूल सिद्धान्तों की स्थापना करने के अनन्तर उनका खण्डन किया है। उन्होने न्याय, वैशेषिक, साख्य, योग, पूर्वमीमासा, उत्तरमीमासा (अद्वैत शकर द्वैताद्वैत भास्कर–यादव प्रकाश) के अतिरिक्त चार्वाक बौद्ध, जैन, पाशुपत, तान्त्रिक, लोकायत आदि का भी खण्डन किया है। यही नहीं अतिब्रह्मवादी, राजसपुराणवादी, आदित्योपासक, हैरण्यगर्भ, शैव, माध्व आदि के सिद्धान्तों का भी सक्षेप में उल्लेख किया है।

आत्मैक्य देवतैक्य त्रिकसमधिकता तुल्यतैक्य त्रयाणा–
मन्यत्रैश्वर्यमित्याद्यानिपुणभणितिराद्रियन्तें न सन्त ।

त्र्यन्तैरेककण्ठैस्तदनुगुणमनुव्यास मुख्योक्तिभिश्च

श्रीमान्नारायणो न पतिरखिलतनुर्मुक्तिदो मुक्तभोग्य ।

स सू 6/71

सकल्पसूर्योदय के द्वितीय और पचम अध्याय में ही प्रमुख रूप सें वेदान्त देशिक ने सभी दर्शनों का खण्डन किया है। उनका कहना है कि यद्यपि चार्वाक, बौद्ध, जैन, नैयायिक, वैशेषिक, साख्य तथा गोमुख सिह के समान वेदों की चर्चा करने वाले मीमासकों ने शास्त्रों पर बार-बार आक्षेप किया किन्तु समय-समय पर अवतरित होकर स्वय भगवान् द्वारा रक्षित शास्त्र समस्त विवादों का प्रशमन करने में आज भी समर्थ हैं[38]।

(ङ) बौद्ध दर्शन-

आचार्य वेंकटनाथ ने सर्वप्रथम सक्षेप में बौद्धों के सिद्धान्तों का निरूपण किया है। यद्यपि उन्होंने बौद्धों के 48 भेदों का उल्लेख किया है[39] किन्तु न तो उनके सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है और न नाम परिगणन ही हुआ है। बौद्धों में मुख्य रूप से चार वर्ग हैं- वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक वैभाषिक जगत् को क्षण भगुर मानते हैं। सौत्रान्तिक अपने बुद्धि वैचित्र्य से बाह्य जगत् को केवल अनुमान गम्य बताते हैं। योगाचार दृश्यमान बाह्य जगत् को मिथ्या कहते हैं। माध्यमिक बाह्यय एव आभ्यन्तर समस्त प्रपच को मिथ्या अर्थात् शून्य कहते हैं। इस प्रकार स्ववचन विरोध होने के कारण यह सिद्धान्त स्वय ही अनादरणीय हो जाता है[40]। इसके अतिरिक्त बौद्धों के क्षणिक वाद सिद्धि भी असम्भव है, क्योंकि वे जिन वाक्यों को उदाहरण रूप में प्रस्तुत करते हैं, यदि उनके अर्थ को समझ कर प्रस्तुत

करते हैं, तो निश्चित हैं कि वह अर्थ बोध्य और बोधन क्षण में विद्यमान था अत उसका क्षणिकत्व समाप्त हो जाता है, क्योंकि वह एकाधिक क्षण में विद्यमान है। यदि बिना अर्थ समझे ही उदाहरण रूप में प्रस्तुत करते हैं तो आश्रयासिद्धि के कारण क्षणिकत्व समाप्त हो जाएगा[41]। आश्रयासिद्धि का लक्षण है 'पक्षे पक्षतावच्छेद का भाव ' अर्थात् जहा पक्ष में पक्षता वच्छेदक का अभाव रहता है, वहा आश्रयासिद्धि हेत्वाभास होता है। जैसे 'काचनमय पर्वत वह्निमान' यदि सिद्ध कर रहे हैं तो यहा काचनमय पर्वत पक्ष हुआ और पक्षता वच्छेदक काचन मयत्व होगा। यदि यह ज्ञान हो जाय कि पर्वत में काचनमयत्व ही नहीं है अर्थात् पर्वत काचमयत्वाभाववान् (पक्षतावच्छेदकाभाववान्) है तो यह ज्ञान 'काचनमय पवर्त वह्निमान्' इस परामर्श में प्रतिबन्धक हो जाएगा। उसी प्रकार यहा पर भी समझा जा सकता है। अर्थवद् वाक्य ही उदाहरण (अर्थवद् वाक्य दृष्टयन्त) होते हैं, क्योंकि बिना अर्थ समझे किसी वाक्य को उदाहरण रूप में नहीं रखा जा सकता है। यदि यह समझ लिया जाय कि प्रस्तुत वाक्य बिना अर्थ समझे ही उपस्थित किया गया है, तो यह ज्ञान अर्थवद् वाक्य ही उदाहरण हो सकते हैं इस परामर्श में प्रतिबन्धक हो जाएगा और आश्रयासिद्धि हेत्वाभास आ जाएगा।

सर्वशून्यवादी माध्यमिक सिद्धान्त तो अपने वचनों से स्वय ही खण्डित हो जाता है। 'सर्वशून्यम्' इत्यादि में सर्वम् इस अनुभव से ही सर्वत्व की सिद्धि हो जाती है, फिर उसके लिए शून्यत्व कथन बाधक है। यदि यह कहा जाय कि 'सर्वम्' अनुभव होता ही नही है तो शशविषाणादि की तरह सर्वथा अनुभवाभाव होने के कारण 'सर्वम्' वचन ही उपपन्न नहीं होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि जो स्वय ही

खण्डित हो जाता है उसके लिए दूषणोद्भावन से क्या लाभ है? स्वत मरे हुए सर्प पर मूसल से प्रहार करने की क्या आवश्यकता है[42]।

इस प्रकार बौद्धों के सिद्धान्त का उल्लेख करने के अनन्तर उनका खण्डन करके वेदान्तदेशिक जैनों पर दृष्टि डालते हैं।

(च) जैनदर्शन–

जैन दर्शन को स्याद्वाद भी कहते है। जैनियों का कथन है कि हमारा ज्ञान एकागी होता है। हमें किसी वस्तु का पूरा ज्ञान नहीं है। इसलिए प्रत्येक निर्णय के साथ 'स्यात्' (शायद) लगाना जरूरी है। जैनियों ने इसके लिए सप्तभगीनय की अवधारणा की है। इसे सात रूपों में इस प्रकार दिखाया गया है– 1– स्यादस्ति, 2– स्यान्नास्ति, 3– स्यादस्ति च नास्ति च, 4– स्यादवक्तव्य, 5– स्यादस्ति चावक्तव्य, 6– स्यान्नास्तिचावक्तव्य, 7– स्यादस्ति च नास्तिचावक्तव्य। जैन न्यायशास्त्र में परामर्श इन सात वाक्यों के रूप में ही होता है। जैन दर्शन में इसे ही 'स्पतभगीन्याय' कहते हैं[43]। जैन मतावलम्बियों का रहन–सहन तथा वेशभूषा सामान्य लोगों से अलग तरह की होती है। इनमें कुछ दिगम्बर होते हैं अर्थात् उनका शरीर बिना वस्त्र का होता है। और कुछ श्वेताम्बर होते है जो श्वेत वस्त्र धारण करते हैं। उनके केश काटे नहीं जाते बल्कि उन्हें हाथ से उखाड़ लिया जाता है। हाथ में मयूर पिच्छ लिये रहते हैं, ये लोग भोजन हाथ को ही पात्र बनाकर ग्रहण करते हैं[44]।

आचार्य वेंकटनाथ जैन दर्शन एव जैनियों से भलीभाति परिचित थे। हालाकि उनके समय तक जैन धर्म का प्रचार–प्रसार धीमा पड़ गया था। वेदान्तदेशिक ने सकल्पसूर्योदय में कहा है कि जैन लोग

मयूरमिच्छ घुमाते रहते थें कम बुद्धि वाले लोग उनके प्रभाव में आकर जैन धर्म को ग्रहण कर लेते थे–

'शिथिलोदयसप्तभगिशिक्षा विषमोपन्यसनव्यथाविलक्षा ।
मलिनास्त इमे मयूरपिछभ्रमणैरेव विलोभयन्तिमन्दान् ।।

स सू 6/76

आचार्य वेंकटनाथ ने कहा है कि जैन दर्शन का खण्डन क्या किया जाय? शायद है, शायद नहीं है (स्यादस्ति, स्यान्नास्ति) इत्यादि द्वारा विहित वस्तु का प्रतिषेध करते हुए और प्रतिषेध वस्तु का विधान करते हुए ये तो स्व्य अपने वचनों का खण्डन कर लेते हैं[45]। भक्ष्य, अभक्ष्य तथा अपने सिद्धान्तों की स्थापना और दूसरे के सिद्धान्तों में दोष आदि देने में किसी नियम का पालन नहीं कर सकतें हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि इस सदिग्ध सप्तन्याय प्रणाली के कारण किसी विषय में कोई निश्चय किया ही नहीं जा सकता है, तो फिर उसके विधान या निषेध का प्रश्न ही नहीं उठता। चूकि इन्होंने वैदिकमार्ग में दोष प्रकट किया है, अत नाराज होकर देवों ने इन्हें केशों का उखाड़ना रूप दण्ड स्वय ही दे दिया है[46]। अर्थात् ये तो अपने पाप कर्मो का फल भोगते रहते हैं तो इन बेचारों के उन्मूलन का प्रयास क्यों किया जाय।

(छ) लोकायत ओर चार्वाक दर्शन–

इसे भौतिकवादी दर्शन भी कहते हैं। चार्वाक का सबसे प्रमुख सिद्धान्त यह है कि 'यावज्जीवेत् सुख जीवेदृण कृत्वा घृतपिवेत् भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमन कुत ।' चार्वाक अर्थ और काम को ही

पुरूषार्थ समझता है। ये स्वर्ग लोक की बात स्वीकार नहीं करते हैं। उन्होंने पृथिवी आदि चार महाभूतों को ही तत्त्व माना है। जिस प्रकार ताम्बुल, सुपारी और चूने के योग से लालिमा निकलती है, उसी प्रकार जड़ पदार्थो के सघात से चैतन्य उत्पन्न हो जाता है[47]। लोकायत मत के प्रणेता बृहस्पति हैं[48]। तथा चार्वाक मत के प्रणेता विरोचन हैं[49]। मूलत इन दोनों के मतों में कोई अन्तर नहीं है। वृहस्पति का कथन है कि अग्निहोत्र, तीनों वेद, तीन दण्ड धारण करना (सन्यास लेना) और भस्म लगाना उन लोगों की जीविका का साधन है जिसमें न बुद्धि है ओर न शरीरिक शक्ति (पुरूषार्थ) ही है[50]। इनके अनुसार स्त्री के आलिङ् गन से उत्पन्न सुख ही पुरूषार्थ का लक्षण है तथा काटे आदि के गड़ जाने से उत्पन्न दु ख ही नरक कहलाता है[51]।

आचार्य वेंकटनाथ ने लोकायत मत के सिद्धान्तों का उल्लेख करने के पश्चात् उसका खण्डन किया है। उन्होंने कहा है कि जिस प्रकार (महुआ, गुड़ आदि पदार्थो में मादकता न रहने पर भी एक विशेष विधि से उन्हें मिला देने पर) मद शक्ति उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चार तत्त्वों के (विशेष रूप में) मिलने से चैतन्य उत्पन्न हो जाता है। शरीर से अतिरिक्त आत्मा को क्या किसी ने देखा है ? शरीर के नष्ट हो जाने पर क्या किसी ने सुख का अनुभव किया है[52] ? लोकायत मत के अनुसार शरीर का नाश ही मुक्ति है। सम्भोग ही उत्तम सुख है। सुरत सुख प्रदान करने वाली तरूणी स्त्रिया ही देवता हैं[53]। यहीं नहीं वृहस्पति प्रणीत लोकायत मत के शरीर नाश रूपी मुक्ति को भी चार्वाक स्वीकार नहीं करते हैं।वे कहते हैं कि स्तनयुगल के वृहत्व से अपनी महिमा का स्थापन करने वाले और सौन्दर्य, विभ्रम आदि गुणों से युक्त पोषित, रूप ब्रह्म से

भोग साम्य प्राप्त करना ही मुक्ति है, अर्थात् शरीर का नाश मुक्ति नहीं अपितु युवती स्त्रियों से सुरत सुख प्राप्त करना ही मुक्ति है[54]। वेदान्त देशिक ने चार्वाक दर्शन का विशेष रूप से खण्डन नहीं किया है। वे जानते थे कि आसुरी प्रकृति वाले व्यक्तियों की ही इसमें प्रवृति है। उन्हें समझाना, न समझाना बराबर ही है। 'उपदेशोहि मूर्खाणा प्रकोपाय न शान्तयें' के अनुसार क्षुद्र जनों से मौन रहना ही अधिक उपयुक्त है। वे इतना कहकर ही सन्तुष्ट हो जाते हैं कि यह चार्वाक दर्शन विद्वानों में अरूचि उत्पन्न करता है। समस्त जगत् के माता-पिता लक्ष्मीनारायण का दाम्पतय सहज और उनकी इच्छावश है नकि कर्मकृत है। मनुष्यों में स्त्री पुरूषादि विभाग भी उनके (नारायण के) कैंकर्य सम्पादन के लिए है। सम्पूर्ण लीला विभूति उनका शेष है वे शेषी हैं इत्यादि ज्ञान से सरसता बुद्धि उत्पन्न होने के कारण चार्वाक दर्शन से स्वय अरूचि हो जाती है[55]।

(ज) पाशुपत दर्शन-

पाशुपत या माहेश्वर दर्शन के प्रर्वतक लकुलीश या नकुलीश हैं जिन्हें भगवान् शकर के 18 अवतारों में से एक माना जाता है। वेदान्त देशिक के समय में इस दर्शन का बहुत प्रचार था। पाशुपत दर्शन माहेश्वर दर्शन का ही एक भेद है। माहेश्वर दर्शन की चार शाखाये हैं - पाशुपत, शैव, कालामुख और कापालिक। इस दर्शन का मूलग्रन्थ 'माहेश्वररचित' 'पाशुपत सूत्र' है।

प्रस्तुत नाटक में नाटककार ने कहा है कि साख्य, वैशेषिक, बौद्ध और जैनों के शास्त्रार्थ में गौतम ऋषि के शिष्य पराजित हो गये तो उन्होंने क्रुद्ध होकर शिष्यों को वेदवाह्य पशुपति प्रणीत शास्त्र

प्रचारक होने का शाप दे दिया[56]। इसकी पुष्टि पौराणिक कथाओं से भी होती है[57]। पाशुपत मतावलम्बी भी जैनों के समान बहुत मायावी होते थे। ऐन्द्रजालिक क्रियाओं का अभ्यास किये रहते थे। इन क्रियाओं के प्रयोग से वे लोगों को अपनी ओर आकर्षित कर लिया करते थे[58]। भवसागर से पार करने वाले नारायण ही इनके कपट कर्मों का निर्मूलन करने में समर्थ हैं[59]। ऐसा कहकर आचार्य वेदान्तदेशिक उनके सिद्धान्त का खण्डन करने से विरत हो जाते हैं।

(झ) सांख्य योग दर्शन–

साख्य दर्शन के प्रणेता कपिलमुनि हैं तथा योग दर्शन के प्रणेता पतजलि हैं। साख्य और योग दर्शन एक दूसरे के पूरक हैं। इन दोनों दर्शनों में ईश्वर के अतिरिक्त सम्पूर्ण मान्यतायें समान हैं। साख्य दर्शन को निरीश्वर दर्शन कहा गया है, क्योंकि वे अपने दर्शन में ईश्वर सञ्ज्ञक कोई पदार्थ स्वीकार नहीं करते परन्तु योग दर्शन में पुरूष विशेष के रूप मे ईश्वर को भी स्वीकार किया जाता है। इस कारण इस दर्शन को सेश्वर साख्य भी कहते हैं।

महर्षि कपिल के मत के अनुसार प्रकृति (प्रधान) और पुरूष दो तत्त्व हैं। प्रकृत से महत्, महत् से अहङ्कार उत्पन्न होता है। अहङ्कार से दो प्रकार की सृष्टि होती है। प्रथम, एकादश इन्द्रियों का समुदाय और द्वितीय पच तन्मात्र। इन्ही पच तन्मात्रों से पच महाभूतों की सृष्टि होती है[60]। इस प्रकार साख्य शास्त्र में प्रकृति, पुरूष, महत्, अहङ्कार, पचतन्मात्र (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) एकादश इन्द्रियाँ (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसन, तथा त्वक् नामक पाच ज्ञानेन्द्रिया और वाक्, पाणि, पाद, पायु, और उपस्थ पाच कर्मेन्द्रिया तथा ग्यारहवा मन) और

पच महाभूत (आकाश, वायु, तेजस, जल और पृथ्वी) ये सब मिलकर 25 तत्त्व माने जाते हैं[61]।

साख्य दर्शन के इस सिद्धान्त से वेदान्तदेशिक की मत भिन्नता है। इनका कहना है कि यदि साख्य दर्शन प्रधान और पुरुष को स्वीकार किया है तो सहस्रों श्रुतियों से प्रतिपादित ईश्वर ने क्या बिगाड़ा है। उसे भी स्वीकार कर लेना चाहिए। यदि साख्य मतावलम्बी अपने कुतर्कों से ईश्वर (विभु) का खण्डन करते हैं तो वैशेषिक, चार्वाकादि साख्य परिगृहीत प्रधान पुरुष का भी खण्डन कर देंगे[62]। कहने का तात्पर्य यह है कि वैशेषिक जगत् की कारणता परमाणुओं को स्वीकार करके प्रकृति का अपलाप कर देते हैं और चार्वाक शरीर व्यतिरिक्त प्रत्यगात्मा को स्वीकार नहीं करते हैं। इस तरह अगर साख्य मतावलम्बी ईश्वर को अङ्गीकार नहीं करते हैं तो उनका सर्वस्व ही छिन जाता है।

सेश्वर साख्य को मानने वालों में कुछ तो चौबीस तत्त्वों के अनन्तर ही ईश्वर रूप में पचीसवा तत्त्व मानते हैं। कुछ जीव को पचीसवा तत्त्व मानकर ईश्वर को छब्बीसवें तत्त्व के रूप में स्वीकार करते है ओर कुछ काल को भी तत्त्व मानकर सताईसवें तत्त्व के रूप में ईश्वर को स्वीकार करते है[63]। वेदान्तदेशिक इनका स्वागत नहीं करते हैं। वे सेश्वर साख्य (योगदर्शन) का भी खण्डन करते है क्योंकि योगदर्शन का सिद्धान्त है कि प्रधान ही जगत् का उपादान कारण है। ईश्वर निमित्त कारण मात्र है। ईश्वर के ज्ञान शक्ति आदि प्रतिबिम्ब कल्प है। इससे आचार्य वेदान्तदेशिक सहमत नहीं हैं उनका कथन है कि ईश्वर के ऐश्वर्य को प्रतिबिम्ब कल्प तथा प्रकृति को उपादान कारण मानना शास्त्र विरुद्ध है। ज्ञान शक्ति आदि स्वत सिद्धगुणों का ख्यापन

करने वाली श्रुतियों[64] से ही इनके ईश्वर का खण्डन हो जाता है, अत यह योग शास्त्र तन्त्र नहीं अपितु तन्त्राभास मात्र है[65]।

(ञ) मीमांसा दर्शन

मीमासा दर्शन मूलत वेदों पर आधारित दर्शन है। इस कारण मीमासक वेद वाक्यों को ही परम प्रमाण स्वीकार करते हैं। वेदान्तदर्शन को उत्तर मीमासा कहते है। यह भी वैदिक सिद्धान्त है। यद्यपि शङ्कराचार्य आदि अद्वैतवादी वेदान्ती केवल उत्तर मीमासा (उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र आदि) का ही प्रमाण्य स्वीकार करते हैं, किन्तु विशिष्टाद्वैत वादी (रामानुज, वेदान्तदेशिक आदि) पूर्व मीमासा और उत्तरमीमासा का ऐक्य स्थापित करते हैं तथा दोनों का प्रमाण्य स्वीकार करते हैं। वेदान्त देशिक ने मीमासकों का खण्डन तो किया है परन्तु उस रूप मे नहीं, जैसा कि जैन, बौद्ध आदि का किया है। उनका कहना है कि मीमासक वेदों की रक्षा में प्रवृत होने पर भी वेदान्त (उपनिषद) को अस्वीकार करते हैं अत उनको सम्मान भी देना चाहिए और भय भी दिखाना चाहिए[66]। वेदान्त के स्थिर रहने पर भी मीमासक उसकी उपेक्षा करके न जाने कैसे सभाओं में केवल पूर्व मीमासा का ही प्रचार किया करते हैं[67]। वेदमार्ग में निष्णात् महापुरूषों में अग्रगण्य अध्यात्मवेत्ताओं का यह निर्णय है कि विष्णुभक्तों को पापकर्मों के समान ही काम्यकर्मो का भी परित्याग कर देना चाहिए और नित्यनैमित्तिक कर्मो के अनुष्ठान में तत्पर रहना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि जिन कर्मो का अनुष्ठान किया जाय, उन्हें किसी फल की कामना से न करके केवल भगवत्प्रीत्यर्थ करना चाहिए। इसीलिए महापुरूष कर्म मीमासा और ब्रह्ममीमांसा की एक शास्त्रता बताते हैं[68]।

इस प्रकार वेदान्त देशिक मीमासकों का अधिक खण्डन न करके केवल इतना ही आक्षेप करते हैं कि वेदान्त (उपनिषद्) की उपेक्षा करना ठीक नहीं है।

(ट) अद्वैत दर्शन-

अद्वैत दर्शन का प्रचार वेदान्तदेशिक के समय तक चारों तरफ फैल चुका था। इस दर्शन के महान व्यक्ति शड् कराचार्य ने असत्कार्यवाद और भेदवाद का खण्डन करके सत्कार्यवाद और अभेदवाद की स्थापना कर दी थी।

श्री वेदान्तदेशिक के पूर्व शड् कराचार्य हो चुके थे अत उनके सिद्धान्तों का खण्डन किये बिना अपने सिद्धान्त की स्थापना करना इनके लिए सम्भव नहीं था। यद्यपि अपने दार्शनिक ग्रन्थों में तो वेदान्तदेशिक ने उनके सिद्धान्तों को खण्डन किया है। यदि यह कहा जाय कि अद्वैत दर्शन का खण्डन करने में ही वेदान्त देशिक को अपनी समग्र शक्ति लगानी पड़ी तो अत्युक्ति न होगी। उसका खण्डन कने के अनन्तर ही विशिष्टाद्वैत की स्थापना हो सकती है, ऐसा उनका दृढ़ निश्चय था। 'शतदूषणी' इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

अद्वैत दर्शन का खण्डन करने के पूर्व वेदान्तदेशिक भूमिका बनाते हुए कहते है कि यतिराज रामानुजाचार्य के द्वारा वैदिक सिद्धान्त की स्थापना में तत्पर हो जाने पर बौद्ध दर्शन नष्ट हो गया, साख्य शास्त्र लुप्त हो गया, वैशेषिक दर्शन क्षीण हो गया, योग शास्त्र और पाशुपत तन्त्र शान्त हो गये, मीमासकों में कुमारिलभट्ट का मत क्षीण हो गया और प्रभाकर का गुरुमत उत्सारित हो गया तो शड् कर आदि के मतों का निरास करने में क्या सन्देह है[69]। (क्योंकि बौद्धादि

मतों के निरास से ही उनका निरास हो गया है।)

शङ्कराचार्य ने अपने अद्वैत सिद्धान्त को बहुत प्रसिद्धी दिलायी। यहा तक कि भारतीय दर्शन का अर्थ ही सामान्य जन अद्वैत दर्शन ही समझते हैं। इसमें केवल ब्रह्ममात्र सत्य माना जाता है[70]। ब्रह्म निष्फल, निष्क्रिय और शान्त है[71]। वह सत्य, ज्ञान और अनन्तस्वरूप है[72]। अविद्यावशात् जगत् की प्रतीति हुआ करती है। जो कि भ्रमात्मिका है। जीव, जगत् आदि प्रतीति व्यावहारिक है। यह ज्ञान भ्रमात्मक या मिथ्याभूत है। वस्तुत जगत्, जीवादि हैं ही नहीं, केवल ब्रह्ममात्र है। अविद्या की निवृत्ति होने पर शरीर, आत्मा, जगत् आदि की प्रतीति नहीं होती, केवल चिन्मात्र ब्रह्म का भान होता है। यही अविद्या की निवृत्ति ही मोक्ष है। सक्षेप में अद्वैत दर्शन का यही मूल सिद्धान्त है।

वेदान्तदेशिक इस मत से सहमत नहीं हैं। वे कहते हैं कि अद्वैती इस दृश्यमान जगत् को आकाश में गन्धर्व नगर की भाति (रज्जु में सर्प की तरह) अज्ञान वशात् मानते हैं, वस्तुत इसकी सत्ता है ही नहीं। इसे न सत् कह सकते है और न असत् कह सकतें हैं यह अनिर्वचनीय है। उनका यह कथन वन्ध्या पुत्रों की गोष्ठी के समान है[73]। अर्थात् जैसे वन्ध्या के पुत्रों का होना ही असत् है फिर उनकी गोष्ठी तो नितात असम्भव है। उसी प्रकार इस दृश्यमान जगत् का निषेध करना ही अनुपपन्न है फिर उसे भी अनिर्वचनीय कहना तो और भी अनुपयुक्त है। यही नहीं स्वरूपेक्य बुद्धि से अह ब्रह्मास्मि इत्यादि कहने वाले अद्वैतियों का नित्यमुक्तवाद ही है अर्थात् सत्सिद्धान्त का परित्याग करने वाला है। इनकी वहीं गति होगी जो कि स्वरूपेक्य बुद्धि से 'वासुदेवो हम्' इत्यादि कहने वाले पौण्ड्रक की हुई थी[74]। बिना

किसी स्वरूप से विशिष्ट हुए मुक्त पुरुष की पहले अविद्यमान मुक्ति का प्रतिपादन भी असम्भव है। अद्वैती यदि ऐसी मुक्ति की कल्पना कर सकते हैं तो स्वप्न में दृष्ट पुष्प के मकरन्द में असाधारण स्वाद का उपपादन भी कर सकते हैं[75]। कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे स्वप्न दृष्ट पुष्प के मकरन्द का आसाधारण स्वादुत्व असम्भव है उसी प्रकार ब्रह्मात्मैकत्ववादी अद्वैतियों की मुक्ति भी सम्भव नहीं है।

आर्चाय वेदान्तदेशिक सुभगाभिक्षुकन्याय का आश्रय लेकर अद्वैत वेदान्त पर आक्षेप करते हैं। आक्षेप पर विचार करने के पूर्व सुभगाभिक्षुक न्याय समझ लेना आवश्यक है। कोई भिक्षुक किसी सुन्दरी (सुभगा) के यहा भिक्षा मागने गया। वह कहीं गयी थीं। उसकी पुत्रवधू ने भिक्षा नहीं है कहकर भिक्षुक को लौटा दिया। मार्ग में वह स्त्री उसे मिल गई और उसके लौटने का कारण उसने पूछा–भिक्षुक ने पुत्रवधू द्वारा भिक्षा निषेध बता दिया। यह सुनकर उसने कहा घर आओ मैं भिक्षा दूगी, वह क्या जाने । भिक्षार्थ पुन भिक्षुक के आने पर उसने स्वय कह दिया कि भिक्षा नहीं है। इस न्याय का प्रयोग प्रस्तुत नाटककार ने अद्वैतियों पर किया है। इसी प्रसड् ग में यह भी जान लेना चाहिए कि वेदान्तदेशिक मीमासको को सबन्ध मीमासक ओर अद्वैतियों को राहु मीमासक कहते है। क्योंकि ये दोनों मतावलम्बी क्रमश वेद के पूर्व भाग और उत्तरभाग को ही मान्यता देते हैं। उनका कथन है कि अद्वैत (राहु मीमासक) एक ओर तो वेदान्त का परित्याग करने वाले बौद्ध, जैन, मीमासक आदि पर आक्षेप करते हैं परन्तु दूसरी ओर भेद श्रुतियों के निषेध द्वारा वेदान्त पर स्वय ही आक्षेप करते है। जैसे कोई व्यक्ति सभाकम्पाभाव कहना चाहे और मूर्खतावशात् 'भसापकाभाव' कहे तो लोगों को हसी छूटती है। उसी प्रकार अद्वैत दर्शन के मानने

वालों के वचनों से हसी आती है। उनके सिद्धान्तों का खण्डन करने में भी आचार्य वेदान्तदेशिक को लज्जा लगती है[76]।

(ठ) द्वैताद्वैत दर्शन–

श्री वेदान्तदेशिक ने अन्त में भास्कर और यादवप्रकाश के मतों पर आक्षेप किया है। भास्कराचार्य द्वैताद्वैत मत के प्रवर्तक हैं। ये जीव ओर ब्रह्म में भेद ओर अभेद दोनों मानते हैं। उनमें अभेद स्वाभाविक है और भेद औपाधिक है। जिस प्रकार महाकाश और घटाकाश में अभेद स्वाभाविक है और भेद औपाधिक, उसी प्रकार यहा भी समझना चाहिए। ब्रह्म अन्त करण और देह आदि उपाधि पाकर जीव बन जाता है।उपाधि सम्बन्ध छूटने पर जीव मुक्त होकर ब्रह्म बन जाता है। भास्कराचार्य के मत से उपाधि भी ब्रह्म से भिन्न और अभिन्न है। यहा भेद और अभेद दोनों स्वाभाविक है। अभेद दृष्टि पर विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि ब्रह्म ही जड उपाधि बनकर नानाविध दोषरूपी विकारों को प्राप्त करता रहता है। अनेक उपाधियों के सयोग से ब्रह्म अनेक जीव बन जाता है। अत बद्ध– मुक्त व्यवस्था तथा गुरू शिष्य व्यवस्था बन जाती है।

श्रीयादवप्रकाशाचार्य के मत से जीव और ब्रह्म में भेद तथा अभेद दोनों स्वाभाविक है कोई औपापधिक नहीं है। इस प्रकार ब्रह्म जीव तथा जड से स्वभावत भिन्न एव अभिन्न माना जाता है। यदि वेदान्त के अर्थो का यथार्थ निरूपण करने में भास्कर और यादवप्रकाश ही समर्थ हैं अर्थात् उनके द्वारा प्रतिपादित वेदान्तार्थ ही यदि यथोचित अर्थ है तो स्यादत्ति, स्यान्नास्ति इत्यादि परस्पर व्याघात वचनों के प्रयोग में अत्यन्त निपुण जैन आदि आचार्यो ने ही क्या

बिगाड़ा है[77]। कहने का तात्पर्य यह कि यदि भास्कर और यादव प्रकाश के व्याहत वचनों (भेदाभेद) को स्वीकार किया जा सकता है तो जैनियों के अतिव्याहत कथनों को ही क्यों न मान्यता दी जाय ? जबकि परस्पर विरूद्ध वचनों का प्रयोग करने में वे इनसे बहुत आगे है। फिर वे कहते है कि जैसे निर्गुण ब्रह्मवादी शङ्कर प्रच्छन्न बौद्ध के रूप में प्रसिद्ध है उसी प्रकार भास्कर और यादवप्रकाश भी जैनगन्धी वेदान्ती हैं अर्थात् इन्हें प्रच्छन्न जैन कहा जा सकता है[78]।

अत हम देखते हैं कि श्रीवेदान्तदेशिक ने प्राय समस्त नास्तिकास्तिक दर्शनों पर विचार करने के पश्चात् सम्पूर्ण वेदान्त के रहस्यों को सङ्ग्रह करके सक्षेप में अपना दर्शन प्रस्तुत करते हैं। उपनिषदों में प्रयुक्त द्वासुपर्णा सयुजा सखाया[79] 'भोक्ता भोग्य प्रेरितारच मत्वा[80] इत्यादि भेद श्रुतिया परमात्मा, जीव और प्रकृति में परस्पर स्वरूप भेद बताती हैं। इदसर्वयत् अयमात्मा[81] तत्त्वमसि[82] इत्यादि अभेद वादिनी श्रुतिया चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म का एकत्व प्रतिपादित करती हैं। इन भेद ओर अभेद वादिनी श्रुतियों के रहस्यार्थ की रक्षा करने वाले सर्वान्तर्यामी परमात्मा 'य पृथिव्या तिष्ठन् य आत्मनितिष्ठन्ना-त्मनोऽन्तरोऽयमात्मा न वेद[83] 'अन्त प्रतिष्ट शास्ता जनाना सर्वात्मा[84] इत्यादि अन्य (घटक) श्रुतियों के द्वारा कहा जाता है। श्री वेदान्तदेशिक के कहने का तात्पर्य यह है कि उनके मत (विशिष्टाद्वैत दर्शन) में सभी श्रुतियों का अविरोध तथा मुख्यार्थत्व सिद्ध होता है जो कि अन्य दर्शनों में सम्भव नहीं है।

उद्धरणानुक्रमणिका

1 विशत्यव्दे श्रावित नानाविधविध त्रिंशद्वारं श्रावित शारीरक भाष्य । स0सू0 1/15
2 सर्वतन्त्रसकट प्रशमन विशकटमति । स0सू0 पृ0 38
3 श्रीरगराजदिव्याज्ञा लब्धवेदान्ताचार्य पद कवितार्किक सिह इति प्रख्यात गुणसमाख्य छात्र जननिबद्धजैत्रध्वज प्रसाधित दिशासौध । स0सू0 पृ0 38
4 एव विधचिदचिदात्मक प्रपचस्योद्भवस्थित प्रलय ससार निर्वतनेकहेतुभूत समस्तहेयप्रत्यनीकतया (अनन्त) कल्याणैकतानतया च स्वेरसमस्त वस्तु विलक्षण स्वरूपो नवधिकातिशयासख्येकल्याण गुणगण सर्वात्मपरब्रह्म परज्योति परतत्व परमात्मसदादि शब्द भेदै निंखिलवेदान्तवद्योभगवन्ना रायण पुरूषोतम इत्यन्तर्यामि स्वरूपम्। वेदार्थसग्रह पृ0 17
5 स्वयमेव जगदुपादान जगत्निमित च वे0 । स0सू0 पृ0 38
6 पर ब्रह्मैव सर्वज्ञ सर्व शक्ति सतयसकल्पमवाप्त समस्त काममपि लीलार्थ विचित्रनन्तचिदचित्मिश्रजगद्रूपेणाहमेव बहुस्या तदर्थ प्रजायेय इति स्वयमेव सकल्प्य स्वाशोक देशादेव विपदादिभूतानि सृष्टवा। वे0स0 पृ0 38
7 शरीरात्मभावेन च तदात्मकत्वम् । वे0स0 पृ0 45
8 तस्येवस्स्य कार्यतया कारणतया च नाना सस्थान सस्थितस्य सस्थानतया चिदचिद्वस्तुजातभवस्थितमिति। वे0स0पृ0 141
9 प्रकृतिप्रकारसस्थिते परमात्मनि प्रकारभूत प्रकृत्यशेविकार प्रकार्यशे चाविकार एवमेवजीवप्रकार सस्थिते परमात्मनि प्रकारभूत जीवाशे सर्वे चापुरूषार्थो प्रकार्यशो नियन्ता निरवध सर्वकल्याण गुणाकर सत्यसकल्प एव। व0स0पृ0149
10 अयमेव चात्मशरीरभाव पृथ्कसिद्ध्यनर्हाधाराधेयभाव नियन्तनियाम्यभाव शेषिशेषभावश्च सर्वात्मना धारतया नियन्त्रतया शेषितया च आप्नोतित्यात्मा सर्वात्मना धेयतया नियाम्य तथा शेषतया च अपृथकसिद्ध प्रकारभूतमित्याकार शरीरमिति चोच्यते। व0स0पृ0156
11 तस्येतस्यात्मन कर्मकृतविचित्र गुणप्रकृति ससर्गरूपातससा रान्मोक्षो भगवत्प्रपत्तिमन्तरेणनोपपद्येत।वे0स0पृ0167
12 सौर्य परब्रह्मभूत पुरूषोत्तमो निरतिशयपुण्य सचयक्षीणा शेषजन्मोपचित पापराशे परमपुरूषचरणारविन्दशरणागतिजनिततदाभिमुख्यस्य सदाचार्योपदेशो पवृहितशास्त्राधिगत् तत्वयात्म्याव बोध पूर्व काहरहरूप चीयमान शमदमतप श्शोक्षमार्जवमयाभयस्थान विवेकदयाहिसाद्यात्मगुणोपेतस्य वर्णाश्रमोचित परमपुरूषाराधनवेषनित्य ने मिलिककर्मोपसहतिनिबिद्ध परिहार निष्ठस्य परमपुरूष चरणारविन्द मुगलन्यस्तात्मात्मीपस्य तद्भक्तिकारितानसरत स्तुति स्मृतिनमस्कृति वन्दनयतनकीर्तन गुणश्रवण वचन ध्यानार्चनप्रणामदिप्रति परम कारूणिक पुरूषेत्तम प्रसाद विध्वस्तस्वान्तध्वान्तस्यानन्यप्रयोजनानवरतनिरतिशय प्रियविशदतम प्रत्यक्षतापन्नानुध्यान रूपमवतयेकलभ्य । वे0स0पृ0190
13 हिरण्य गर्भादीना भवनात्रयान्वयादशुद्धत्वेन शुभाश्रयत्वानर्हतोपपादनात् क्षेत्रज्ञत्व निश्चियते। वे0स0पृ0249
14 रूप्रस्य ब्रह्मणाश्चान्येषा च देहिना परमेश्वरौ नारायणौऽन्तरात्मतयाऽवस्थित इति। वे0स0पृ0226
15 अन्तरात्मतयावस्थित नारायण दर्शितपयौ ब्रह्मरूद्रोसृष्टिसहार कार्य करावित्यर्थ ।वे0स0पृ0237
16 मिथोभेद तत्त्वेष्वभिलपति भेदश्रतिश्तो विशिष्टैक्यादैक्य श्रतिरपि च सार्था भगवती । इमावर्थो गोप्तु निखिलजगन्तर्यभयतिा निरीशो लक्ष्मीश श्रतिभिरपराभि प्रणिदधे।। स0सू0 2/94
17 नित्यनिर्मलमहानन्ददशान्त स्वय प्रकाश सर्वजनदर्शन योग्य स्वभाव पुरूष । स0सू0 पृ0 135
18 बहुलदुरितद्वारे ब्राह्मेरे वरसमत स्वमतिघटित स्वातन्त्रयत्वादयन्त्रितचेष्टित विषमवचिवै स्वेस्वे कार्ये विगृह्य विकृष्यते नरपतिरिवक्षीवो नानाविधैरयमिन्द्रियै । स0सू0 1/72
19 अनादि निजकर्मरूपाविधा पराधेनक्षेत्रज्ञोऽयमीश्वरेणक्षिप्तससरन्नवसरे ते नैव समुद्धियत इति। स0सू0 138
20 शास्त्राण्यालोड्य सर्वाण्यशिथिलगतिभि र्युक्तिवर्गेविचार्य स्वैान्तर्निधार्य तत्त्व स्वभुजमपि महत्युद्धरन् सूरिसघे। सत्य सत्य च सत्य पुनरिति कथमन् सादर वेदवादी पराशर्य प्रमाण यदि क इह पर केशवादाविरस्ति।। स0सू0 1/89
21 अथचासौनिखिलजगदेकदेहिना नित्य निरवद्येन देवेन निजनगर पर्यन्तमनधम पुनरावृतिमध्वान निर्नीषित तेन च स0सू0 पृ0 881
22 अस्तिरवलु सर्वधुरीण कश्चित्सर्वजगदन्तर्यामीपुरूष स0सू0 774
23 स्वसकल्पोपध्नत्रिविधचिदचिद्वस्तु वितति पुमर्थानामेक स्वयमिह चतुर्ण प्रसवभू। शुभस्रोतोभाजां श्रतिपरिषदा श्रीपतिरसा वनन्त सिन्धुनाभुदधिरिव विश्रान्ति विषय । स0सू0 1/92
24 अचिन्तनीय महात्म्ययेश्वरस्येव तवशक्त्येतारदुर्धर सर्वं सघटयत इतिकिमाश्चर्यम् । स0सू0 पृ0 616
25 त्रय् यन्तेरेकण्ठेस्तदनुगुणमनु व्यास मुख्योक्तिभिश्च। श्रीमन्नारायणो न पतिरखिलतनुर्भुक्तिदो मुक्तिभोग्य । स0सू0 5/71
26 कि तत्प्रिय परमत प्रतिपादनीय पदमासहाय पदमजुषा भवत्या। पश्यामि यत्पुरूषमेवमपास्तपडक राकाश शाशाकमिवराहुमुखाद्विमुक्तम्।। स0सू0 10/95
27 त्रियुग्मगुणशिल्पिना त्रिगुणतुलिका धारिणा विविच्य विनिवेशित वहति चित्रमत्यद्भुतम् । स0सू0 1/73
28 मायायोगान्मलिनितरूचौ वल्लभे तुल्यशीला राहुग्रस्ते तुहिनकिरणे निष्प्रभा यामिनीव। स0सू0 1/74
29 संसाराख्यज्वलनभसितीभूसजीवनर्हा धर्मोत्पत्तिप्रथितविभावा धार्यमाणा गिरीशै । गम्भीरत्वादकलुषगतिर्गम्यतीर्थोपपन्ना गङ्गेवान्या पुरूषजलधि गाहते विष्णु भक्ति । स0सू0 9/2

30 ससारवर्तवेग प्रशमन शुभटटदेशिक प्रेक्षितोऽह सत्यक्तौऽन्येरूपायैरनु चितचरितेष्वद्य शान्ताभिसधि ।
नि शङकस्तत्वदृष्टया निखधिकदय प्रार्थ्य सरक्षकत्वा न्यस्य त्वत्पादपद्मे वरदनिजभर निर्भरो निर्भयोऽस्मि।।
स0सू0 6/74

31 यस्मिन्विस्मय नीयभूमनि मनागुन्मीलिते नैकध सिध्यन्त्यस्य सिवासितस्य जगत स्वर्गापवर्गादय ।
ऐश सोऽहमवासरात्ययभावन्मायामहायामिनी सत्ता शेष सुषुप्तबोधनपुट । स0सू0 10/20

32 सुमतिबहुमतेन स्वात्मना सत्त्व धाम्ना बहिरबहिरूदीर्ण वारिते वैरिवर्गे
जयति पुरूषस्य ज्यायसी चित्त वृति समविषमविभेदी सार्वभौमौ विवेक । स0सू0 9/34

33 सा काशीति न चाकशीति भुविसायोध्येति नाध्यास्यते सावन्तीनि न कल्मषादवन्ति सा काचीति नोदचति।
धत्ते सा मधुरेति नाग्रिमधुरा नान्यापिमान्यापुरी या वैकुण्ठ कथासुधार सभुजा रोचते नोचेतसे।। स0सू0 6/39

34 तेषु चैतषु भगवदवतारेषु निराशिष पुरूषस्य यथामिमतमेकमालम्बन निर्धारणीय महाराजेन । स0सू0 पृ0 661

35 जितकार्तयुगैर्धर्मर्जित शमदमादिभि । महता यद्विवेकेन महामोह पराहत ।। स0सू0 8/100

36 दिव्य सप्रति दुन्दुभिर्दिशिदिशि ध्वनिर्मुहु श्रूयते देवानामपि हावुहावुलहरी विक्षोभयत्यम्बरम।
आरब्धप्रतिसस्कृते कृतमुखैरर्चिर्मुखे श्रीपते राज्ञाधारिभिरतिवाहिक गणैरदिश्यते पद्धति । स0सू0 10/82

37 ग्रहस्वप्ननिमित्तादिमोध चिन्ता पराङमुख । प्राप्त प्राप्तभुपासीन प्रवेक्ष्यामि पर पदम्। स0सू0 10/84

38 शाक्यौलूक्याक्षपादक्षपणककपिलाभर्त्यवन्ध्रप्रधानै--रन्यैराम्नायचर्वाक वच धृतिकन द्गोमुखद्वीपिमिश्च
वहीय क्षोभितापि श्रुतिरिह बहुधाजायमानेन गोपा काले--कालेऽभिगुप्ता कलहमतितरन्त्यक्षतारक्षता त्वाम् ।
स0सू0 2/36

39 अष्टाचत्वारिंशत बौद्धभेदान् नीचोक्त्याह भाषया निर्मिमाण
अध्यासीनो बोधिवृक्षस्या मूल विद्यादर्प वैदिकानाम हार्षम् । स0सू0 5/11

40 कथयति जडो विश्व वैभाषिक क्षणभडगुर परमनुमित बाह्य सौत्रान्तिको मतिचैत्र्यत
तदिदमनृत योगाचारस्तया निखिल पर स्ववचनहता सर्वेगर्व त्यजन्ति ममाग्रत ।। स0सू0 2/72

41 दन्तादन्ति विधानलम्परधियो दिडनागमुख्या बुधा शृण्वन्त्वद्य विपद्यते परमिय शिक्षा भवत्पक्षत ।
बुद् वोध्यमुदाहरन्ति विशद बुद्धादयश्चेज्जित नो चेद्धन्त जित पुनस्तदिह नस्तूर्य तु जो घुष्यते स0सू0 2/73

42 परस्परविघटनत्रुटित तर्क शास्त्रच्छटा तिरस्कृतचमत्कृति स्वयमखण्डि वैतण्डिक
किमत्र परिशिष्यते किमपि दूषणोदभावन स्वतो निहतमुद्‌गरप्रहरणप्रया सायते।। स0सू0 2/75

43 अत्र सर्वत्र सप्तभगीनयाख्य न्यायभवतारवन्ति जैना । स्यादस्ति स्यान्नास्ति इत्यादि सर्वदर्शन । स पृ 169

44 लचिता पिच्छिकाहस्ता पाणिपात्रा दिगम्बरा । उर्ध्वाशिनो गृहे दातु द्वितीया स्युर्जिनर्षय ।। स0द0स0 पृ0 178

45 प्रतिक्षिप्त विदधता विहित प्रतिषेधताम्। क इवान्य प्रतिक्षेप कार्य स्ववचनादृते।। स0सू0 6/77

46 भक्ष्याभक्ष्यस्वपर समय स्थापना दूषणादिष्वैकान्त्य यै जहति विहित क्वापि नैते विदन्ति
देवैरेषा निगम पदवी दूषणीदीर्णरोषै र्दन्तो नून स्थिरशिरसिजो ल्लुछनेनैव दण्ड ।। स0सू0 6/78

47 जडभूत विकारेषु चैतन्य यत्तु दृश्यते। ताम्बूलपूगचूर्णाना योगाद्राग इवोत्थात्म स0सू0 2/7

48 तदेतद्वागीश समतनुतलोकायतनमतम्।। स0सू0 5/46

49 असुरोषनिषद्रहस्यमग्य प्रमिमामासविरोचन प्रजानाम् ।। स0सू0 5/58

50 अग्निहोत्र त्रयोवेदास्त्रिदण्ड भस्मगुण्ठनम् । बुद्धि पौरूषहीनाना जीविकेत वृहस्पति ।। सर्वदर्शन सग्रह।

51 अडगनालिडगनाज्जन्यसुखभेव पुमर्थता। कण्टकादि व्यथाजन्य दु ख निरय उच्चते।। सर्वदर्शनसग्रहे

52 पृथिव्यापस्तेज पवन इति तत्तवानिमिलितैरमीभिश्चैतन्य भवतिमदशक्यादिनियत ।
किमात्मा दृष्टोऽन्य किमुतवपुसिध्वसिनि सुख तदेतद्वागीश समतनुत लोकायतनमतम् । स0सू0 5/46

53 शरीर प्रलयोमुक्तिर्भोगस्तु रतिरूत्तमा देवतास्तत्प्रदायिन स्त्रियस्तारूण्यभूषणा ।। स0सू0 5/49

54 करण विलयरूपा मुक्तिरित्युक्तमाधैर्वितथमितिमयान्यद्वार्ति के विन्यवेशि
स्तनमुगलवृहत्तवस्थापनीय स्वभूम्ना बहुगुण विभवेन ब्रह्मणाभोग साम्यम्। स0सू0 5/59

55 दाम्पतय सहज समस्तजगता पित्रोस्तदिच्छापवशात् कामिन्यादिविभागत्कृप्तिरपित तत्कैकर्यसिद्धयै नृणाम्।
इत्थं शेषभशेषमद्यतु भवत्सारस्य सवर्धक वैरस्य विदधाति हन्त विदुषा वैरोचन दर्शनम्।। स0सू0 5/54

56 कपिलकणादबुद्धकचलुछनतन्त्रकथाकलकलकोविदेषुकथकेषुगलन्यतिषु।
मुनिवरसापराध जनमोहन कौत किना पशुपतिना यदुक्तमपयान्तयथ तत्प्रवणा ।। स0सू0 2/79

57 त्रिपुण्ड्धारिणो यूय भस्मोलनतत्परा । भविष्यथत्रयीवाहया मिथ्याज्ञान प्रवर्तका ।। स0सू0पृ0 301

58 दिगम्बरादिवत् केनापि विप्रलम्भोपायेन स्वसिद्धान्तश्रद्धा सवर्धनाय प्रयतन्ते।। स0सू0 पृ0 299

59 स कैटभतमोर विर्मधुपरागजझामरू द्धिरण्यगिरिदारणस्त्रुटितकालनेमिद्रुम
किमत्र बहुना भजदभवपयोधिभुष्टिधय कथ न भवति स्वय कपटकर्मनिर्मूलन ।। स0सू0 2/82

60 प्रकृतेर्महास्ततोऽहड्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशक । तस्मादपि षोडशकात् पचभ्य पचभूतानि।। साख्यसारिका 22

61 मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाधा प्रकृतिविकृतय सप्त । षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृति पुरूष ।। सा0का0 3

62 प्रधान पुरूषौ यदि प्रकृतियन्त्रितैराहृतौ पर किमपराध्यति श्रुतिसहस्र चूडामणि । क
कुतर्क शतककशैर्यदि विभु प्रतिक्षिप्यते भवत्परिगृहीतमप्यप हरन्तु पाटच्चरा ।। स0सू0 2/66

63 विश्वपतिमार्यवचसा साख्या समत्य विगतसरम्भा गणयति पचविंश षड्विंश सप्तविंश वा।। स0सू0 2/67

64 य सर्वज्ञ सर्ववित् (मु0उ0 1-1-9) स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च (श्वे0उ0 6-8) सोऽकामयत बहुस्या

प्रजायेय (तै0उ0 2–6–1)

65 य एते योगाख्ये कतिचिदपतन्त्रे पठतिन प्रजल्पन्त्यैश्वर्यं प्रतिफलनकल्प भगवत ।
स्वत सिद्धान् बोधप्रशकन बलादीन् गुणगणान् गृणन्तस्त्रय्यन्ता प्रतिभणितिरेबामवितथा।। स0सू0 2/68

66 अभी पुनरागमभिरक्षणे प्रवृत्ता वेदान्त परित्यागिन तोषयितत्याभीषयितव्याश्च।। स0सू0 पृ0 309

67 निरस्ताखिलदोषेषु निगमान्तेषु सत्स्वामी। कथ सदासि मीमासक बन्धमनुरून्धते।। स0सू0 2/87

68 अतएव कर्मब्रह्ममीमासयोरैकशास्त्रयमामनन्ति सन्त ।। स0सू0 पृ0 310

69 गाथा ताथा गताना गलति गमनिका कापिलीस्वापिलीना क्षीणा काणादवाणी दुहिणहरगिर सौरभ नारभन्ते।
क्षामा कौमोरिलोक्तिजगति गुरूमत गौरवाद् दुखान्त का शडका शडकरादेर्भजति यतिपतौ भद्रवेदी त्रिवेदीम्।।
स0सू0 2/89

70 सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् दा0उ0 6–2–1

71 निष्फल निष्क्रिय शान्तम् ।। श्वेता0उ0 6/19

72 सत्यज्ञानमनन्त ब्रह्म ।। तै0उ0 1/1

73 अविद्यामाहम्त्म्यादानहमिदमर्थे जगदिय गृणन्त्येते भात गगन इव गन्धर्व नगरम
अवन्ध्यैर्व्याधातैर तिपतति बिन्ध्यद्रढिमभिनिर्बन्ध्मास्ते वन्ध्यासुतनृपतिवैतालिक गणै।। स0सू0 2/90

74 परिगृहीतप्रौणड्रकाद्वैतानाममीषा नित्यमुक्तवादोऽपि नित्यमुक्तवादतामापादयति ।। स0सू0 पृ0 318

75 मुक्तस्य नित्यमविशिष्टतनोरपूर्वा मुक्ति प्रकल्पयितुमात्त विचारयत्न ।
स्वप्नप्रसुनमकरन्दरसस्य मन्ये स्वादुत्वमन्यदुपपादयितु क्षमेत।। स0सू0 2/92

76 आलक्ष्यतामय रजनिचरवशबान्धवाना राहुमीमासकाना सुभगा भिक्षुकन्याय येदेते निगमान्त परित्यगिन परानधिक्षिपन्ति प्रतिक्षिपन्ति च स्वयमेव निगमान्तान्। अत सभाकम्पभाव प्रतिपादकजडपुरूष प्रयुज्यमानभसापकाभावचन वदपहारस्यवच साममीषा प्रतिक्षेपेऽप्यपत्रामहे। स0सू0 पृ0 320–21

77 यदिभास्करयादव प्रकाशौ निगमान्तस्थितिनिर्णय प्रविणौ। अपरे किमपरार्द्धमार्यैरयथाभाषणचातुरी धुरीणै ।
स0सू0 2/93

78 अतएव निर्गुण ब्रह्मवादिना प्रच्छन्न बौद्धप्रसिद्धिवदनयोरपि जैन गन्धिवेदान्तिनाविति नामधेय मनुशोश्रुयामहे।। स0सू0 पृ0 323

79 मु0 उ0 3–1–1

80 श्वे0 उ0 1–12

81 वृ0 उ0 6–4–19

82 छा0 उ0 6–8–7

83 वृ0 माध्य0 6–7

84 यजुरारण्य0 3/20

षष्ठ अध्याय

संकल्पसूर्योदय में लोक चित्रण

(क) वर्णाश्रम व्यवस्था

(ख) स्त्रियों की दशा

(ग) विवाह

(घ) मान्यतायें

(ङ) क्रीड़ोत्सव

(च) जनजीवन

सकल्प सूर्योदय मे लोक-चित्रण

कोई भी कवि अपने आस-पास के सामाजिक वातावरण से अनभिज्ञ नहीं रह सकता। इसी आधार पर कवि द्वारा रचित कृति को समाज का दर्पण कहा जाता है। यद्यपि कवि किसी ऐतिहासिक इतिवृत्त के चित्रण में इतिहास आदि के आधार पर तत्कालीन समाज को चित्रित करने का प्रयत्न करता है। किन्तु वह अपने समकालिक समाज की उपेक्षा नहीं कर सकता। वर्तमान समाज उसकी रचनाओं में झलकता रहता है। यदि यह कहा जाय कि कवि अपने समय की आधार शिला पर वर्णित समाज का चित्र खीचने का प्रयत्न करता है तो अनुचित न होगा। वेदान्तदेशिक की रचनाओं में भी तात्कालिक समाज का चित्रण प्रचुर मात्रा में सुलभ है। यादवाभ्युदय महाकाव्य के ऐतिहासिक इतिवृत्त के वर्णन के समय वेदान्तदेशिक को वर्तमान लोक स्थिति को माध्यम बनाना पड़ा , किन्तु सकल्प सूर्योदय की सृष्टि काल मे कवि को स्पष्ट रूप से अपने समाज को चित्रित करने का अवसर मिला।

सकल्पसूर्योदय में लोक चित्रण दो रूपों में मिलता है प्रथम कवि के परिसर की लोकस्थिति का चित्रण और अद्वितीय है भौगोलिक आधार पर विभिन्न सामाजो की दश का परिचय। इससे कवि की लोकप्रियता के साथ -साथ सूक्ष्म दर्शिता का भी पता चलता है। प्रस्तुत अध्याय में सकल्प सूर्योदय में वर्णित लोकस्थिति के विषय में वर्णन किया गया है।

(क) वर्णाश्रम व्यवस्था–

प्राचीन काल से भारतीय समाज में वर्णाश्रम व्यवस्था का स्थान महत्त्वपूर्ण माना जाता रहा है। चार वर्णो और आश्रमों में विभक्त होकर लोग अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए स्वय परिपुष्ट होकर समाज को भी सुदृढ़ बनायें रखते थे। समष्टि में ही व्यष्टि का हित निहित था। एकता ही विभिन्नता की परिणति थी । कालान्तर में वर्णाश्रम व्यवस्था विच्छृखलित हो गई । स्ववर्णाश्रमानुकूल धर्म का पालन करने में लोगो की रूचि जाती रही। वेंदान्तदेशिक के समय में भी वर्णाश्रम व्यवस्था शिथिल हो गयी थी। अक्षर नहीं पहचानते थे किन्तु काख (कक्ष) में पुस्तक दबाकर दाढ़ी बढायें हुए विद्वानों के समय ब्राह्मण दिखायी पड़ते थे। यही नहीं असम्बद्ध प्रलाप करते थे अल्पज्ञानसे ही फूले थे, गुरूजनों की अवहेलना करते थे। स्वर्ग मोक्ष को नही मानते थे। केवल मूर्ख राजाओ की चाटुकारिता मे ही अपने को कृतकृत्य समझने लगे थे–

अनियतबहुजल्पैरल्पबोधावलिप्तै–

रवमतगुरूवर्गैरत्रिवर्गापवर्गै ।

अभिनयविधुताङ्गैरङ्गुलीनृत्तसारै–

श्लमिहजडभूभृत्पीठमदैरमीभि ।। स0 सू0 5/14

ब्राह्मणों का चारित्रिक पतन हो गया था। छिपकर वे पतित कर्म किया करते थे, किन्तु ससार के सामने अपना सुन्दररूप बनाकर उपस्थित होते थे । उदाहरण के लिए वे रात्रि में वेश्यागमन करते थे और दिन मे श्रोत्रिय, याज्ञिक, तापस, आदि विविध वेषों में ससार को ठगते थे।

स्वतन्त्रवरवर्णिनीसुरतकेलिसौत्रामणी

रसार्चितमनोभवा रहसि निर्विशद्भि क्षपाम्।

दिवा विविध भूमिका विहित कचुकैर्वच्यते

वियातकितवैरिद वितथदत्तवितजगत्।।

वर्णाश्रम धर्म वाह्ययाचरण मात्र में सरक्षित थे। जातकर्म आदि सस्कार केवल उत्सव मनाने(नृत्य गीतादि)के लिए किये जाते थे। सन्ध्या विश्राम करने के लिए की जाती थी, शुद्धता अभिनयप्राय होगयी थी ।

सस्कारा परमुत्सवैकवपुष सध्या विनोदावधि

सावित्री जनवाद जर्जरतनु शौच नटप्रायिकम्।

इत्थमोहमहीपतेरनुमते विश्व विपर्यस्यत

कालस्यैष कलेरलेपकमत व्यक्तक्रम प्रक्रम ।।

स0सू0 5/18

वेद पढ़ना जीविका का साधन हो गया था। गली–गली में शिष्य की परीक्षा किये बिना लोग तोते की तरह वेद रटते थे।

प्रतिवीथिकमाश्रयन्त एते

कुहनासूक्तिमयीं कुसीदवृत्तिम्।

अपरीक्षितशिष्यमद्य सर्वे

शुकवद ब्रह्मम पठन्ति शुद्ध बेषा ।।

स0 सू0 5/20

श्रोत्रियों में ईर्ष्या की अधिकता देखी जाती थी। इस प्रकार वर्ण व्यवस्था नाम मात्र को अवशिष्ट थी। वेदान्तदेशिक ने वर्णाग्रगण्य ब्राह्मणों की दुर्दशा को ही चित्रित कर के अन्य वर्णो की स्थिति का अनुमान लगाना स्वय पाठकों पर छोड दिया है। ब्राह्मणों की

दशा का नग्न चित्रण करने में वेदान्तदेशिक का उद्देश्य यह नहीं था कि उनकी खिल्ली उड़ायी जाय और लोग थू-थू करें । अपितु कुलीन और लब्ध प्रतिष्ठ ब्राह्मणों का अध पतन देखकर उनका चित्त क्षुब्ध हो उठा होगा। नाट्य के माध्यम से लोक के समक्ष उनकी पतितावस्था चित्रित कर उन्होंने ब्राह्मणों को सावधान करना अपना कर्तव्य समझा। लोक कल्याण ही उनका उद्देश्य था। उन्होंने ब्राह्मणों को ध्यान में यह बात लाने का प्रयत्न किया कि वे यह न समझे कि कोई उनकी त्रुटियों को जानता नहीं है। वे समझ लें कि उनका पाखण्ड और थोथापन लोंगों के सामने स्पष्ट हो गया है। अत अपना सुधार करने और सन्मार्ग पर चलने का प्रयत्न करें। ब्राह्मण अपने धर्म से विमुख हो रहे थे। फिर भी समाज में उनकी प्रतिष्ठा थी। उन्हे अन्य वर्णो से उच्च समझा जाता था। उन्हें न तो शारीरिक दण्ड दिया जाता था और न पैर से स्पर्श किया जाता था । यथा समय ब्राह्मणों के चरण पूजे जाते थे । आचार्य का स्थान बहुत उच्च समझा जाता था-

अध्यासीनतुरङ्गवक्त्रविलसज्जिह्वाग्रसिहासना-
दाचार्यादिहदेवता समधिकामन्या न मन्यामहे।
यस्यासौ भजते कदचिदजहद्भूमा स्वय भूमिका
मग्नाना भविना भवार्णवसमुत्नताराय नारायण ।।

स0 सू0 2/63

हिन्दू सामाजिक सगठन की दूसरी महत्त्वपूर्ण सस्था आश्रमों की है जो वर्ण के साथ सम्बन्धित है। आश्रम मनुष्य की प्रशिक्षण की समस्या से सम्बद्ध है जो ससार की सामाजिक विचार धारा के सम्पूर्ण इतिहास में अद्वितीय है। हिन्दू व्यवस्था में प्रत्येक मनुष्य का जीवन एक प्रकार के प्रशिक्षण तथा आत्मा नुशासन का है।

इस प्रशिक्षण के दौरान उसे चार चरणों से होकर गुजरना पड़ता है ये प्रशिक्षण की चार अवस्थायें हैं। आश्रम शब्द की उत्पत्ति 'श्रम्' धातु से हुई है जिसका अर्थ है परिश्रम या प्रयास करना । इस प्रकार आश्रम वे स्थान हैं जहा प्रयास किया जाय। मूलत आश्रम जीवन की यात्रा में एक विश्राम स्थल का कार्य करते हैं। जहा आगे की यात्रा के लिए तैयारी की जाती हैं। जीवन का चरम लक्ष्य मोक्षकी प्राप्ति है। मोक्ष प्राप्ति की यात्रा में आश्रमों को विश्राम स्थल बताया गया है।

आश्रम व्यवस्था का मनोवैज्ञानिक नैतिक आधार पुरूषार्थ है जो आश्रमों के माध्यम से व्यक्ति को समाज के साथ सम्बद्ध कर उसकी व्यवस्था तथा सचालन में सहायता प्रदान करते हैं। एक ओर जहा मनुष्य आश्रमों के माध्यम से जीवन मे पुरूषार्थ के उपयोग करने का मनोवैज्ञानिक प्रशिक्षण प्राप्त करता हैं तो दूसरी ओर व्यवहार में वह समाज के प्रति इनके अनुसार जीवन यापन करता हुआ अपने कर्तव्यों को पूरा करता है। प्रत्येक आश्रम जीवन की एक अवस्था है जिसमें रहकर व्यक्ति एक निश्चित अवधि तक प्रशिक्षण प्राप्त करता है। महाभारत में वेद व्यास ने चारों आश्रमों को ब्रह्मलोक पहुँचने के मार्ग में चार सोपान निरूपित किया है[1]। भारतीय विचारकों ने चतुराश्रम व्यवस्था के माध्यम से प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के आदर्शो मे समन्वय स्थापित किया है।

आश्रमों की उत्पत्ति के समय के विषय मे मतभेद है। रिज डेविड्स जैसे कुछ विद्वानों की मान्यता है कि आश्रमों का प्रचलन बुद्ध के बाद अथवा त्रिपिटकों की रचना के पश्चात् हुआ होगा क्योंकि इनमें उनका उल्लेख नहीं मिलता है[2]। किन्तु यह मत असगत लगता है। कारण कि उत्तर वैदिक कालीन ग्रन्थों में हम आश्रमों का यत्र-तत्र

उल्लेख प्राप्त करते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण, तैतीरीय सहिता, शतपथ ब्राह्मण आदि में इनका उल्लेख हैं। जाबालोपनिषद में हम सर्वप्रथम चारों आश्रमों का उल्लेख प्राप्त करते है। ऐसा प्रतीत होता है कि आश्रमों की कल्पना उपनिषद् काल में ही हो चुकी थी। किन्तु सूत्रकाल तक आते –आते यह व्यवस्था समाज में पूर्णतया प्रतिष्ठित हो गयी। स्मृतिकाल में विभिन्न आश्रमों के विधि–विधान निर्धारित किये गये। लगता है कि चारों आश्रमों का विधान भी एक साथ नहीं हुआ होगा। प्रारम्भ में मात्र दो आश्रम थे– ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थ। तत्पश्चात् वानप्रस्थ तथा अन्ततोगत्वा सन्यास आश्रम का विधान किया गया होगा।

वर्ण व्यवस्था की तरह आश्रम व्यवस्था भी वेदान्तदेशिक के समय तक समाप्त प्राय हो गयी थी। किसी भी आश्रम में विहित धर्म का पालन नहीं किया जाता था। ब्रह्मचर्य आश्रम बिलकुल समाप्त सा था। जिनके विवाह आदि नहीं हो पाते वे ही अगत्या भिक्षावृति का आश्रय लेकर तुरग ब्रह्मचर्य का पालन करते थे–

अपटुभणितिभावात् विभ्रतो मौनमुद्रा–
मनितरशरणत्वादादृतान्योन्सघा ।
अगतिबिहित भिक्षावृत्तय केचिदेते
चिरविधृततुरगब्रह्मचर्या महान्त ।।

स सू 5/21

गृहस्थाश्रम में भी लोग विहित कर्मो का अनुष्ठान नहीं करते थे। ग्रहस्थ दम्पति अग्निहोत्रादि का परित्याग करके सुरतसुख में निरन्तर आसक्त रहते थे–

तरूणाकृतय कचेषु कृष्णास्त
इमे दपतय सहैव साध्यम।

इतरेतर दैवत भजन्ते

मदनोपज्ञमजस्रमग्निहोत्रम् ।।

स०सू. 5/19

वानप्रस्थ प्रदर्शन मात्र के लिए ग्रहण किया जाता था, इसे लोग अपनी जीविका का साधन बना लिये थे। तीर्थयात्रियों के मार्ग में आसन लगाकर लोग ध्यान का अभिनय करके अर्थसग्रह किया करते थे[3]। अन्य आश्रमों की भाति सन्यास आश्रम की स्थिति भी बड़ी शोचनीय थी। सन्यासी केवल कषाय वस्त्र और दण्ड धारण करने मात्र से ही पहचाने जाते थे[4]। अन्यथा धन-सग्रह ही उनका भी उद्देश्य था। वे भिक्षा को शिष्यों के भरण-पोषण की दक्षिणा कहकर, वस्त्रादि को मठ द्वारा क्षेत्र सम्पादन बताकर, धन को ग्रन्थ क्रय करने के लिए मूल्य कहकर निरन्तर सम्पति एकत्र करने में प्रयत्नशील रहते थे।-

भिक्षेति शिष्यजन रक्षणदक्षिणेति

शाटीति शाश्वतमठोपधिकल्पनेति।

ग्रन्थोपसग्रहण मूल्यमिति ब्रुवाणा

सन्यासिनोऽपि दधते सतत धनायाम् ।।

स सू. 5/27

यहीं नही, सन्यासियों के जो आवश्यक गुण है उनका भी उनमें सर्वथा अभाव था। सन्यासी को ब्रह्म जिज्ञासु ही नहीं, अपितु ब्रह्मज्ञ होना चाहिए। जिज्ञासु में साधन चतुष्ट्यनित्यानित्य वस्तु विवेक, शमदमादि साधन सम्पत, इहामुत्र फल भोग विराग और मुमुक्षुत्व अवश्य होना चाहिए। किन्तु वेदान्तदेशिक के समय के इन कलियुगी सन्यासियों में उक्त गुणों का सर्वथा अभाव ही नहीं अपितु विपरीत गुणों का सग्रह देखा जाता था। नित्यानित्य वस्तु विवेक के स्थान पर

इनमें तत्वातत्वविवेका भाव था। शमदमादि साधन सम्पत् की प्राप्ति के लिए प्रयत्न न करके रागद्वेषादि साधन सम्पत् से परिपूर्ण थे। इहामुत्रफलभोग से विराग कौन कहे, इन्होने लौकिक वैदिक धर्मानुष्ठान से विमुखता को अपना कर्तव्य समझ रखा था। मुमुक्षुत्व के स्थान पर बुभुक्षा इनके जीवन का अग बन गयी थी। इनकी इस विपरीत दशा को देखकर महापुरूष लोग हसते थे[5]।

सन्यासियों से उनका ग्रामकुल, गोत्रादि नहीं पूछा जाता था उनको सभी प्रणाम करते थे[6]। किन्तु अवस्था, कर्म, विद्या आदि में श्रेष्ठ लोग सन्यासियों से प्रणाम करने में सकोच का अनुभव करते थे। उनके नतृनन्तव्य भाव में सन्देह रहता था[7]।

गृहस्थाश्रम में अतिथ्य सत्कार का विशेष महत्त्व था। आगे बढ़कर अतिथि का स्वागत किया जाता था। गृहस्वामी स्वय खाद्यसामग्री लेकर उसके सामने उपस्थित होता था। मृदुवचन तथा जल (अर्ध्यपाद्यमधुपर्क) आदि द्वारा उसका सम्मान किया जाता था।

मयि चरति कदाचित्सत्य लोकोपकण्ठे
सपदि सनकमुख्यै साकमभ्युज्जिहान ।
सविनय निभृताड् ग सप्तश क्षालितेन
स्वयमुदवहदर्ध्य पाणिना पद्मयोनि ।। स सू 5/40

स्वागत के अनन्तर आगमन प्रयोजन पूछा और बताया जाता था। गुरूजनों के आने पर लोग उठकर खड़े हो जाते थे। गुरूजन उन्हें आशीर्वाद देते थे। अल्पावस्था वाले लोग बड़ी अवस्था वालों को प्रणाम करते थे, किन्तु कभी-कभी गुणाधिक्य के कारण कनिष्ठो को भी ज्येष्ठ प्रणाम करते थे-

विधिवशनियतेन विष्णुभक्ते

प्रणिपतनेन वय क्रमाधिकोऽपि।

उचितमुपचरामि विश्वमान्या

हरिपद पद्मरति परामह त्वाम्।। स सू 10/83

प्रणाम करने पर प्रतिप्रणाम किया जाता था–

विष्णुभक्ति – (सप्रश्रयम्) महाराज, अनादिससार सागर –
निमग्नमस्मत्कुलपति पुरुषमुद्धृतवते पूर्व जाय भवते
प्रतिप्रणाममभिरोचयामि । स सू पृ 883

(ख) स्त्रियों की दशा–

सकल्पसूर्योदय में स्त्रियों की दशा के विषय में भी वर्णन प्राप्त होता है। उनकी स्थिति सामान्यत वैसी ही थी जैसी कि वर्तमान समाज में है। वेदान्तदेशिक के काल में स्त्रियों को वेद पढ़ने पर कोई प्रतिबध नहीं था, वे वेद का अध्ययन कर सकती थी। वे सभाओं और उत्सवों में सम्मिलित होती थीं। नगर की स्त्रिया ग्रामीण स्त्रियों के अपेक्षा बहुत चतुर होती थी। परन्तु स्त्रिया राजनीति में निपुण नहीं समझी जाती थीं। राजकुल के रहस्यों को उनसे विशेषरूप से गोप्य रखा जाता था। किन्तु वे अपने पति को कसम दिलाकर रहस्यों को जान लेती थी। नारियों के प्रति कवि के कुछ व्यक्तिगत विचार भी उनकी रचनाओं को पढ़ने से प्रकट होता है। कवि की दृष्टि में स्त्रियों का हृदय दारूण होता है। वे चचल, प्रतिकूल, तीक्ष्ण और रूक्ष स्वभाव की होती हैं। उन्हें हठात् वश में रखना सम्भव नहीं है। वेदान्त देशिक के समय में भी गणिका से परिणय असम्भव समझा जाता था–

गतजलसेतुबन्धगजयूथपशौचकथा-

गगनतलानुलेप गणिकापरिणीतिनिभै ।

व्यथितमतिर्विवेक हतकस्य विचारशतै

कुलपतिरद्य न कथमसौ भविता पुरुष ।।

स सू 8/17

किन्तु वेश्याए राजाओं की सेवा में रहा करती थीं। बाल गूथने आदि के लिए दासिया भी रखी जाती थीं।

इदप्रथमसभवत्कुमतिजालकूलकषा

मृषामतविषानलज्वलितजीवजीवातव ।

क्षरनन्त्यमृतमक्षर यतिपुरदरस्योक्तय-

श्चिरतनसरस्वती चिकुरबन्धसैरन्ध्रिका ।। स सू 2/26

केशों में माग निकालकर सिन्दूर लगाती थीं। गले में मोतियों की माला पहनती थीं। पैरों में लाक्षारस लगाती थीं और मजीर पहनती थी। शबरागनाए गुजाहार, केशों में मयूर पिच्छ एव पल्लवों के वस्त्र पहनती थी जिसे देखकर नगर वासियों को हसी आ जाती थीं। इस कलियुग में भी आर्यावर्त में पतिव्रता स्त्रिया मिलती थी।

नवयौवनदर्मदान्धनारी

दुरितोपपल्वदूषितापि जाति ।

अनपायपतिव्रता प्रवाहैर-

धुनापि प्रलय न याति सत्सु।। स सू 6/25

समाज में विधवाओं की स्थिति अच्छी नहीं थी। वे चोटी नहीं बाधती थीं, पत्र रचना नहीं करती थीं तिलक और अड्गराग नहीं लगाती थीं। कभी-कभी शुल्कादि से भी स्त्रियों को प्राप्त किया जाता था।

लम्बालकैर विरलक्षरद श्रुपरै-
म्र्लानैरपत्रतिलकैर्वदनार विन्दै ।
शसन्ति शौर्य विभव भुजशालिनस्ते
मोहावरोधसुदृशो मुषिताड्गरागा ।। स सू 9/4

(ग) विवाह-

विवाह प्राय आर्ष विधि के अनुसार होता था। दहेज प्रथा का बहुत प्रचलन था। वर्तमान काल की तरह यह उस समय भी समाज का अभिशाप बना था। वर पक्ष वाले कन्या पक्ष वालों से दहेज वसूल कर लेना अपना अधिकार समझते थे। दहेज बलात् छीन लिया जाता था। इसी कारण कन्या कुल वाले वर पक्ष वालों के अधीन हो जाते थे। अत यह स्वाभाविक था कि परिवार में कन्या को हेय दृष्टि से देखा जाता था। यह भावना आज भी समाज में बनी हुई है। इसके मूल में दहेज प्रथा ही तब भी थी और अब भी है। विवाह के समय उत्सव मनाये जाते थे। जिनमें सगीत (वाद्य, नृत्य, गीत) का आयोजन किया जाता था। गायक, नर्तकादि को धन तथा पारितोषिक दिया जाता था। विवाह के समय वधू को आभूषणों से अलड्कार किया जाता था। वधू माड्गलिक माला और अक्षत आदि का प्रयोग करती थीं। उसके हाथों में रक्षा सूत्र बाधा जाता था। विवाह के अवसर पर लाजा होम का प्रचलन था। लाजा की वर्षा भी की जाती थी। मन्त्रोच्चारण के साथ सप्तपदी की जाती थी। वर अपने हाथों से वधू के पैरों को पकड़कर अश्मारोहण कराता था। वर-वधू अरून्धती का दर्शन करते थे। पुरोहित वर-वधू को आशीर्वाद देते थे। सम्बन्धी तथा गाववासी नव दम्पति को उपहार प्रदान करते थे।

(घ) मान्यताये –

वेदान्तदेशिक ने सकल्पसूर्योदय की जिस समय रचना की उस समय भी लोग प्राचीन काल की तरह शुभ–अशुभ, शकुन अपशकुन आदि में विश्वास करते थे। स्त्रियों के वामाग का फड़कना शुभ समझा जाता था। पुरूषों का वामाग फड़कना किसी अशुभ का सूचक माना जाता था। स्त्रियों के दक्षिण नेत्रादि का स्फुरण अनिष्ट की सूचना देता था। नभोमण्डल में गिद्धों का मडराना, ध्वजा का खण्डित हो जाना, वात्यामण्डलों (बवडर) का दिखाई पड़ना आदि को लोग अशुभ सूचक मानते थे।–

गृध्रास्तोरणशैल श्रृड्गमभिताऽगृह्णन्नभोमण्डल
वात्यामण्डल खण्डित ध्वजपटी शून्यानि सैन्यानि न ।
शूलप्रासकृपाणमुद्ग्रधनु क्रुरैर्मुहु किकरै–
र्दृश्यन्ते परिवारिता इव दिश सवर्तसवर्तकै ।।

स सू 8/4

मन्त्र–तन्त्रादि में लोग विश्वास करते थे। ग्रहादि दोषों के निवारणार्थ मन्त्रादि बाचे जाते थे। बच्चों को सिह का नख पहनाने से नजर, टोना, ग्रहादि प्रकोप का भय नहीं होगा, ऐसी लोगों की धारणा थी। भूत प्रेतादि में विश्वास किया जाता था। कभी–कभी पिशाचादि से लोग अभिभूत हो जाते थे–

मधुभरितहेम कुम्भीमधुरि–
मधुर्यौ पयोधरौ सुदृशाम्।
पिशितमिति भावयन्त पिशाच
कल्पा प्रलोभयन्ति जडान्।। स सू 3/8

भाग्यवाद में विश्वास किया जाता था । अपनी छाया के

समान नियति (भाग्य) का कोई उल्लघन नहीं कर सकता है[8]। सुख-दु ख नियतिवशात् ही प्राप्त हुआ करते है। अपने पौरुष से कोई दैव का अतिक्रमण नहीं कर सकता है-

परिचरतितवासौ पार्श्ववर्ती वसन्त

किमपि मधुकरीभिर्गीयते नाम जैत्रम्।

तदपि मदनदैन्य प्रापितस्त्च नियत्या

क इव कथय दैव पौरुषेणों परुन्ध्यात्।। स सू 8/65

वेदान्तदेशिक ने कहा है कि इसमें आश्चर्य की बात नहीं है कि असाधारण पौरुष वाले व्यक्तियों द्वारा भी नियति का अतिक्रमण सभव नहीं है[9]। नियति का दारुण परिणाम अपरिहार्य हुआ करता है[10]। कहने का तात्पर्य यह है कि वेदान्तदेशिक के मत से भाग्यवाद दृढ़ सत्य है। भाग्य में परिवर्तन करना स्वपौरुषाधीन नहीं है। पूर्वजन्म में किए गये पापों के फलस्वरूप विपत्तियों (दु ख) को सहन करना ही पड़ता है। भाग्य से ही अवद्य गुणों का नाश और ईश्वर में प्रीति होती है।

प्रतिक्षिप्तावद्य प्रवरगुण निर्धारण भुवा

परप्रेम्णा जुष्टो भवभृदधुना भाग्यवशत ।

अभिन्ना स्वादानाममृत लहरीणामिव धिया

विकल्प विज्ञाता विधिपवन वैषम्य जनितम्।।

स सू 3/18

यही नहीं भाग्य से ही कोई प्राणी ससार को छोड़ सकता है-

विषमधु बहिष्कुर्वन्धीरो बहिर्विषयात्मक

परिमितरसस्वात्मप्राप्ति प्रयास पराङ्मुख ।

निरवधिमहानन्द ब्रह्मानुभूति कुतूहली
जगति भविता दैवात्कश्चिज्जिहासितसंसृति ।।

स सू 3/25

इसके अतिरिक्त समाज में अन्य धार्मिक मान्यतायें भी प्रचलित थी। श्राद्धादि में विश्वास किया जाता था। पिण्डदान भी किया जाता था। नवान्न प्राशन के पूर्व लोग देवबलि प्रदान करते थे। देवोत्सव यात्रायें की जाती थी। लोग नगरों और वीथियों की परिक्रमा करते थे। लोग एकादशी को व्रत (उपवास) रखते थे[11]। रजस्वला के समीप जाना अनुचित समझा जाता था। उसके साथ सम्भोग अत्यत गर्हित माना जाता था। प्रमादवश ऐसा हो जाने पर लोग लज्जित होकर स्नानादि करने के अनन्तर पवित्र होते थे।

(ङ) क्रीड़ोत्सव-

प्रसन्नता के अवसरों पर उत्सव मनाने की प्रथा थी। पुत्र जन्मादि के अवसरों पर धूम-धाम से उत्सव मनाये जाते थे। दान दिया जाता था। ग्रामवासी ऐसे अवसरों पर पूर्ण सहयोग प्रदान करते थे। विवाह और विजय के अवसर पर भी उत्सव मनाये जाते थे। विजयी का स्वागत किया जाता था।

अमुष्यदृढविक्रम द्रुतनिपीतमोहाम्बुधे-
र्विवेक नृपतेरसौ विनयसनते मूर्धनि।
परप्रणिधिपवित्रमस्थिरसुखापवादोद्गति-
प्रतिप्रसवसौरभा पतति पुष्पवृष्टिर्दिव ।। स सू 8/107

विजय करके वापस आने पर राजा सार्वजनिक रूप में महोत्सव मनाते थे-

युक्तायुक्तवितर्क दक्षमतिभिर्युष्मदभ्भैरुद्भ्भै-

निर्धूताखिलशल्य कण्टकततिर्नै श्रेयसी पद्धति ।

मोहध्वसधुर धरस्य तव तु त्रय्यन्तपीठे मह-

व्यासीदत्यभिषेक मङ्गलविधेरम्यर्हितोऽय क्षण ।।

स सू 9/9

इन अवसरों पर सगीत (नृत्य, वाद्य, गीत) का प्रचुर प्रयोग होता था। स्त्रिया मधुर गीतों का गान करती थी।

उपाय स्वप्राप्ते रुपनिषदधीत स भगवान्

प्रसत्यै तस्योक्ते प्रपदननिदिध्यासनगती।

तदारोह पुस सुकृतपरिपाकेन महता

निदान तत्रापि स्वयमखिल निर्माण निपुण ।।

स सू 10/31

गीत के साथ मृदग, वीणा, दुन्दुभी आदि वाद्यों का भी प्रयोग किया जाता था। महोत्सवों पर वन्दियों, सेवकों तथा बन्धुओं में यथोचित वस्तुए वितरित की जाती थी। नगर और भवन सजाए जाते थे। राजमार्ग पर पत्थरों के चूर फैलाए जाते थे। जल का छिड़काव करने के लिए बास की पिचकारी प्रयोग में लायी जाती थी।

युवकों द्वारा आसव सेवन किया जाता था। मद्यपीकर लोग मस्त हो जाते थे। अगूर की मदिरा प्रयोग में लायी जाती थी।

पुरुषमजहद्भोग श्रद्धापुरस्कृतसभ्रम

विषयमदिरास्वादक्षीब विमोचयितु स्थित ।

अमृतमिलितद्राक्षावल्लीफलद्रवसपदा-

मम्मरतरुणीबिब्बोकानामवैति न वैभवम् ।। स सू 4/22

द्यूत या जुआ खेलने का विशेष प्रचलन था। द्यूत में अपना

सर्वस्व दाव पर लगा देने में भी लोग हिचकते नहीं थे।

वादद्यूतपण प्रकल्प किमपि क्षिप्ताभिमान क्वथन्
कश्चिद् वैदिकपद्धति द्विजपति क्षिप्र मया त्याजित ।
अर्हद्बुद्धबृहस्पतिप्रभृतिभि क्लृप्तान्कृतान्तक्रमा–
नन्योन्यव्यतिहारितानपि पठन् व्यामोहयत्यर्भकान् ।।

स सू 5/13

(च) जनजीवन–

लोगों का सामान्य जीवन सुखसमृद्धि से पूर्ण था। गृही अपने घरों में अनेक प्रकार की क्रीड़ायें किया करते थे। जल विहारार्थ वापिकायें रहती थी। उसमें वे जलक्रीड़ायें करते थे। दोलारोहण करते थे। स्त्रियों को पुरुष झुलाया करते थे। ग्रीष्म ऋतु में यन्त्र धारायुक्त शीतल भवनों में लोग निवास करते थे। वास गृहों में दीपक जलाए जाते थे। सुगन्ध के लिए अगुरु का प्रयोग किया जाता था। दम्पति प्रहेलिकाओं का प्रयोग करते थे, जिससे उनका शिक्षित होना प्रतीत होता है।

पशु–पक्षियों का पालन किया जाता था। मयूर, मुर्गा और शारिका लोग घरों में रखते थे। भेड़े भी पाले जाते थे। भेड़ों को लड़ने का अभ्यास कराया जाता था। उनकी लड़ाई लोग बड़े आनन्द से देखते थे–

अद्वैतं क्वचिदर्पित क्वचिदिह द्वैत मया साधित
द्वैताद्वैतसमाहृति क्वचिदसौ दुस्थाप्यवस्थापिता।
तत्तद्भक्तिभुधाग्रहोदितकथाकल्लोलतो वादिना
मन्येसंप्रति मल्लमेषसमरप्रेक्षारस प्राप्नुम ।।

स सू 5/12

उस समय कृषि भी सही ढग से की जाती थी। धान के खेतों की निराई की जाती थी। अन्य फसलें भी बोई जाती थी। व्यापार उच्च कोटि का था। मणि मुक्तादि रत्नों का व्यापार लोग नावों से करते थे। नावों द्वारा व्यापार किये जाने से यह प्रतीत होता है कि व्यापार स्वदेश में ही नहीं अपितु विदेशों में भी किया जाता था। मृगया खेलने का प्रचलन था। मृगयु (शिकारी) मार्ग के किनारे झाड़ियों में या गड्ढों में छिपकर बैठते थे। कभी-कभी अपने को छिपाने तथा हिंस्र जीवों को आकृष्ट करने के लिए वह गाय मृगादि की खाल से आच्छादित होकर बैठता था।

राजसेवियों को सदैव दण्ड का भय रहता था-

तरतु विवित्सयाब्धिमधिरोहतु शैलतटीं
धमतु च धातुवर्गमभिगच्छतु शस्त्रमुखम्।
तदिदमरुंतुद यदुत बह्ववधाय भिया
धनमदमेदुरक्षितिभृदङ्कणचङ्क्रमणम्।। स सू 6/3

अवसरानुकूल काम करने वाले अधिकारी ही अपने पदों पर प्रतिष्ठित रह सकते थे[12]। इससे उस समय के शासकों या अधिकारियों की निरकुशता के मान के साथ-साथ कर्मचारियों के चाटुकारी होने का सकेत मिलता है। यह केवल उस युग की ही विशेषता नहीं थी, किन्तु वर्तमान समय में भी ऐसा देखा जाता है कि चाटुकारिता करने वाले लोग पदोन्नति कर जाते है, और सीधे-सादे, न्याय एव परिश्रम से काम करने वाले व्यक्ति उचित स्थानों पर नहीं पहुँच पाते। आपसी विरोध मिटाने के लिए सधि की बातें की जाती थी[13]। सन्ध्यर्थ वार्ता के लिए बुलाकर शत्रु राजा के साथ कभी-कभी लोग अभद्र व्यवहार (धोखा) भी करते थे[14]। दूत सर्वथाअबध्य माने जाते थे[15]।

सहृदय विद्वान् गुणों की ओर ही ध्यान देते थे। कहीं यदि प्रमादवश दोष भी दिखाई पड़ जाते थे तो बुरा नहीं मानते थे। खलों को दूसरों में दोष न होने पर भी दोष दीखते थे, और गुणों की ओर उनकी दृष्टि ही नहीं जाती थी, किन्तु वे अपने विषय में इसके विपरीत ही समझते थे–

पश्यति परेषु दोषानसतोऽपि

जन सतोऽपि नैव गुणान्।

विपरीतमिद स्वस्मिन्

महिमा मोहाज्जनस्यैष ।। स सू 1/63

कवियों में अन्य कवियों के भावों को चुराकर रचना करने की प्रवृति देखी जाती थी। दूसरों को विश्वास दिलाने के लिए लोग कसम खाते थे–

शपे दैष्टिक्येन स्वयमिह भवत्या च सुमते

त्वयैव द्रष्टव्य स्वपनविगमोन्मीलित धिया।

अहकारग्राहग्रहकदनसाक्रन्दतनुभृ–

न्मुमुक्षसरम्भो मुरमथनसकल्पमहिमा।। स सू 1/84

दूसरों को कसम खिलाकर लोग उनके रहस्यों या गुप्त बातों को पूछ लिया करते थे[16]। कुटुम्ब के आपसी सम्बन्ध बहुत अच्छे थे। प्राप्त वस्तु को सविभक्त करके लोगों को दिया जाता था। अग्रजों के खा लेने के अनन्तर कनिष्ठ जन अवशिष्ट सामग्रियों का उपभोग करते थे। किसी का देहान्त हो जाने के अनन्तर उसके परिवार वाले विलख–विलख कर रोते थे।–

हतजीवजीबितेशा बिषाद

मूर्च्छादिलुप्त निश्बासाम्।

तृष्णादय सकुल्या दुर्मतिम्

अभितो निपत्य विलपन्ति ।। स सू 8/105

श्री वेदान्त देशिक का भौगोलिक ज्ञान बहुत ही सुन्दर था। इसका प्रमुख कारण यह है कि उन्होंने समस्त उत्तर भारत और दक्षिण भारत की यात्रा करके भारतभूमि का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त किया था। इसलिए उनके काव्य में विभिन्न देशों की लौकिक स्थिति का स्पष्ट एव यथार्थ चित्रण सुलभ है। उन्होंने न केवल आसेतु हिमालय पर्यन्त प्रसृत वर्तमान भारत के अनेक भूखण्डों एव नगरों का चित्रण किया है, अपितु गूर्जर, पारसी, शक, यवन, बर्बर हूण आदि जातियों पर विजय तथा सिन्धु, कम्बोज, कश्मीर, नेपाल एव लका आदि देशों का वर्णन करके उनकी भारत से अखण्डता सूचित की है।

वेदान्तदेशिक ने कश्मीर की स्त्रियों को पुरूषधर्मा तथा कश्मीर को 'स्त्रीदेश' कहा है। कश्मीर के अपूर्व सौन्दर्य को देखकर कवि उसके वर्णन का मोह सवरण न कर सका। वहा की अन्य वस्तुओं की तो उपेक्षा भी की जा सकती है, किन्तु केशर की चर्चा किये बिना वहा का वर्णन अधूरा ही रहता । वहा अविच्छिन्न प्रवाह वाली बालुका नदी बहती थी। धूप रहित रमणीय वनों से पृथ्वी सुशोभित रहती थी। हिमालय में चमर, सिह और कस्तूरी मृग रहते थे। वहा के निवासियों के परिधान विशेष प्रकार के होते थे। शबरागनायें गुजो का हार, मयूर पिच्छ का मुकुट एव पल्लवों के वस्त्र पहनती थी। बदरिकाश्रम का वर्णन किये बिना हिमालय से नीचे उतर आना कवि के लिए सभव नही था। बदरिकाश्रम को देखकर कवि मुग्ध हो जाता है । इसका मुख्य कारण कवि की दृष्टि में यह था कि इस कलियुग में भी वहा पर धर्म पूर्णरूपेण रक्षित था। कवि नेपाल की ओर बढ़ता है। नेपाल का

प्राकृतिक सौन्दर्य अतिरमणीय था। रतिश्रान्त विघाधर मिथुन यहा श्रमापनोदन करते थे। देवागनायें विश्वास पूर्वक निवास करती थी। यहा की रमणिया अपने कपोलस्थलों पर कस्तूरी लगाती थी। जिसकी सुगन्ध चारों ओर फैलती रहती थी। यहा के पर्वत भी कस्तूरी की सुगन्ध से सुवासित रहते थे।

उद्यानायातविद्याधर मिथुन रतिश्रान्त्यपक्रान्ति हेतु-

स्तिम्य द्गात्रस्तुषारै स्त्रिदशयुवतिनिश्वास विश्वास भूमि ।

निहारत्विट कलङ्कप्रतिवदन पदन्यस्तकस्तूरिकोद्य-

न्नेपालीगण्डपाली परिमलललित स्पन्दते गन्धवाह ।।

स सू 6/24

आर्यावर्त (विन्ध्य हिमालय के मध्यस्थल) को वेदान्तदेशिक ने बड़ा गौरवपूर्ण स्थान दिया है। इसका मुख्य कारण यह है कि इस कलिकाल में नवयौवन से दुर्मदान्ध नारियों के कारण अन्यत्र वर्णो के दूषित हो जाने पर भी आर्यावर्त में पतिव्रता स्त्रिया मिलती थी-

नवयौवन दुर्मदान्धनारी

दुरितोपपल्वदूषितापि जाति ।

अनपाय पतिव्रताप्रवाहै

अधुनापि प्रलय न याति सत्सु।। स सू 6/25

यह पुण्य क्षेत्र आर्यजनों से सुशोभित रहता था। इस क्षेत्र में अनेक तीर्थ और तपोवन थे। परन्तु यहा भी समय ने अपना प्रभाव दिखाना प्रारम्भ कर दिया था। धर्म की ओर लोगों की प्रवृति नहीं रह गयी थी। कलिकाल के प्रभाव से वैदिक मार्ग का अनुसरण करने वाले बहुत कम लोग रह गये थे। विदेशियों के गमनागमन तथा सस्कृति सश्लेषण से यहां का धर्म भी विकृत हो चला था। प्राच्य, औदीच्य और पाश्चात्य

पाखण्डियों से यह प्रदेश भी व्याप्त हो गया था[17]। आर्यावर्त का वर्णन करते हुए कवि अयोध्या की ओर अपनी दृष्टि डालता है। अयोध्या अति प्राचीन काल से धर्म और राजनीति का केन्द्र रही है। अयोध्या सरयू के पावन तट पर स्थित होकर अपनी उताल तरगों के कल-कल से प्राचीन अयोध्या के वैभव का आज भी मान करती है। यहीं पर अवतार लेकर मर्यादापुरूषोत्तम राम ने धर्म स्थापन किया था। रघुवशी राजाओं ने अनेक महायज्ञ किये थे-

अयोध्या दिव्येय वहति सरयूरत्र विरजा
विभोरते यूपा विधिनियम निर्मुक्त पशव ।
अकुण्ठस्वातन्त्रय स्वपदर्माधरोहन्नवसरे
सहानैषीदत्र स्थिर चरमशेष रघुपति ।। स सू 6/26

किन्तु यहा भी इस समय पाखण्डियों के प्रभाव से सतयुग का उत्तम धर्म समाप्त हो गया था, मुक्ति मार्ग सेवन करने वाले शान्त चित्त महापुरूषों ने इसका परित्याग कर दिया था[18]। मथुरा की भी ऐसी ही दशा थी। काल क्रम से गुणों का व्यतिक्रम तो हो ही जाता है। मथुरा नगरी में भी अधर्म का वातावरण छा गया था-

इमामधर्मेण विभाव्य सप्लुता
मुदन्वता द्वारवतीमिवाधुना।
न भावये संयमसपदास्पद
न कालत कस्य गुणव्यतिक्रम ।। स सू 6/33

धर्म की स्थिति पर विशेष प्रकाश न डालकर कवि वहा के मनोहर प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन करने लगता है। यह नगरी श्याम सलिला यमुना के तट पर स्थित हैं। इस क्षेत्र में धान की अच्छी खेती होती थी। यहां के निवासियों का वेश-भूषा भी कुछ असाधारण प्रकार की थी। यहा

के निवासी लम्बे केश धारण करते थे और उन्हें बाधे रहते थे। कवि ने सालग्राम (पत्थर) के उद्भव स्थान हरिहर क्षेत्र की भी यात्रा की थी। यह स्थान भी कवि को अच्छा न लगा। यहा लोभियों का साम्राज्य था। वे सालग्राम पत्थर के मध्य स्थित अल्प धन के लिए इसे अपना अड्डा बनाये थे। यहा की दुर्दशा देखकर योगी जन इस क्षेत्र का परित्याग करके अन्यत्र चले गये थे–

अयमुपहत सालग्रामोपलान्तरवस्थित–
द्रविणकणिका लुब्धैर्देशो मलिम्लुचलुब्धकै ।
बहुगुणपरब्रह्मप्रेक्षा सुधाब्धि मनोरथै–
र्मुहुरूपनतप्रत्यासे धैर्मुमुक्षुभिरूज्झित ।। स सू 6/35

वाराणसी सस्कृत विद्या एव शैवधर्म के केन्द्र के रूप में विख्यात हो चुकी थी। पावन गगा के तट पर स्थित दो नदिया (वरूणा और असी) से वेष्टित वाराणसी में भूत भावन उपनिषद् के दुखबोध रहस्यों का स्वय उपदेश करते थे ऐसी प्रसिद्धि थी।

इह पुरूषमजानता पुराण
नियतिवशेन निमीलता दयालु ।
उपदिशति पति स्वय पशूना–
मुपनिषदामपि दूरग रहस्यम्।। स सू 6/37

फिर भी यहा के निवासियों में भागवत धर्म छू तक नहीं गया था। अवैदिक यवन, तुरूष्क आदि विदेशी शासकों के सम्पर्क के कारण पवित्र आचारों का लोप हो गया था[19]। इस प्रकार वेदान्तदेशिक उत्तर भारत के प्रमुखनगरों (तीर्थ स्थानों) की यथार्थ स्थिति का चित्रण करते हैं। इन तीर्थस्थानों की दुर्दशा देखकर उनके हृदय में बड़ा क्षोभ हुआ। उन्हें ऐसा कोई स्थान नहीं मिला जहा सत जन निवास कर सकते।

फिर आचार्य वेदान्तदेशिक दक्षिण भारत की ओर बढ़े।

दक्षिण भारत में अनेक दिव्य देश थे। इनकी दशा भी अच्छी न थी। मलय पवन सदैव चलता रहता है। उत्तरापथ की गगा के समान यहा कावेरी नदी बहती थी। किन्तु वहा चोरों का बहुत आतक था–

इमा मधुरपानीया दक्षिणापथजाहन्वीम्
चोरै परिवृता मन्ये विद्या कुमतिविप्लुताम्।।

स सू 6/47

सर्वस्व त्यागकर के यहा निवास करने वाले भी चोरों के भय से कापते रहते थे। शरीरधारी पाप समूह के समान कुछ लोग अग्रहारों को आक्रान्त किये रहते थे[20]। कावेरी के परिसर में यादवाचल स्थित है[21]। जो कि कवि को कर्णाट देश के श्री कर्णावतस जैसा प्रतीत होता था।

यद्वा तावदय भवेदधिगुणो वासो यदुक्ष्माधर
कर्णालकृतिविभ्रम भजति स कर्णाट्देशश्रिय ।
अन्यान्यप्यरविन्दलोचनपदानुध्यानमेधाविना
स्थानान्यालप कौतुक मम पुन सर्वत्र निर्वर्तते।।

स सू 6/52

कर्णाट और आन्ध्र के मध्यवर्ती क्षेत्र में ईख और धान की खेती होती थी। ईख की छाया में बैठकर स्त्रिया धान की खेतों की रखवाली करती थीं। मलय पर्वत पर अगस्त्य ऋषि का पावन आश्रम था, यहा दिन में न तो अधिक ताप होता था और न रात्रि ही अधिक शीतयुक्त रहती थी। शाखाओं पर बैठे शुक भी अध्यात्म विद्या पढ़ते रहते थे। ऋषि के तप· प्रभाव से सिंह और गज शान्त, वैररहित होकर विचरण करते रहते थे–

तापोन्मुक्त दिवसमखिल शर्वरी नातिशीता

शाखारूढा स्वयमिह शुकास्तत्त्वविद्या पठन्ति।

सिंहै सार्ध विहरति गण सैन्धुर शान्तवैर-

स्तन्न पुण्यैरिव परिणत स्थानमेतत्समाधे ।।

स सू 6/58

यहा की गृहिणिया शरीर धारिणी छाया के समान अपने पतियों का अनुवर्तन करती थी।

इह प्रशान्तेषु निजाश्रमेषु

प्राधीत वेदान् प्रतिपन्न दीक्षान्।

अन्वासते वहिन्मतो यथार्ह

छाया सजीवा इव धर्मदारा ।। स सू 6/59

यहा इलायची की लतायें और चन्दन के वृक्ष थे। मोतियों की उद्भवस्थली ताम्रपर्णी नदी यहा का सौन्दर्य और अधिक बढ़ा देती थी। समुद्र के प्रान्त भाग में ताम्बूलीलताओं से आच्छादित सुपारी (पूग) के वृक्ष समूह थे। समय-समय पर दक्षिण पवन काम को सदीप्त करता रहता था। यहा की युवतिया कुजों का उपभोग किया करती थीं।

एलालिङ्गितचन्दना वनभुवो मुक्ताप्रसूतिर्नदी

ताम्बूलीपरिणद्धपूगपटली कच्छोपकण्ठस्थली।

काले दक्षिणमारुता विदधते कामाग्नि सधुक्षण

कुजान्यत्र च भुजते युवतिभि स्वर्लोकश्रृङ्गारिण ।।

स सू 6/60

आन्ध्र प्रदेश की स्त्रिया बड़ी गुणवती समझी जाती थीं। वे सगीत में विशेष रूचि रखती थीं। स्वयं ही पद्यों की रचना भी कर लेती थी। काची नगरी का वैभव और सौन्दर्य अत्यत विचित्र था। यह नाना रत्नों से

परिपूर्ण थी, नित्य नृत्यगीतादि उत्सव हुआ करते थे। चोल देश में सोपारी के घने बन थे, वहा की स्त्रिया सुगन्धित हरिद्रा से अगराग लगाती थीं। इनके बाल काले होते थे। जूड़ा बाधती थी। यहा के निवासी (द्रमिड) तीव्र चलने वाले और धोखा से आक्रमण करने वाले होते थे। यहा के बनों में चोरों का आधिक्य रहता था, ये चोल और पाण्डय देशवासियों को हानि पहुँचाते रहते थे। पाण्डय देश की स्त्रिया जूड़ा बाधती थीं। मुक्ता के चूर्ण से तिलक करती थीं। पाण्डय देश समृद्ध था। समय से यहा वर्षा होती थी। यहा धर्मात्मा जन निवास करते थे। लका का भी सक्षिप्त वर्णन मिलता है। इस काल में भी लका का अतुलित वैभव था। वहा के निवासी नावों का प्रयोग करते थे। हाथी अधिक सख्या में पाले जाते थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तात्कालिक समाज का एक स्पष्ट चित्र वेदान्तदेशिक की दृष्टि में था जो कि स्थान–स्थान पर उनकी कृति में चित्रित हुआ है। इस लोक चित्रण के अतिरिक्त उन्होंने अनेक पर्वतों, नगरों, जातियों, नदियों आदि का भी वर्णन किया है।

उद्धरणानुक्रमणिका

1 चतुष्पदी ही नि श्रेणी ब्रह्मण्येषा प्रतिष्ठिता। एता आरूह्य नि श्रेणीम् ब्रह्मलोके महीयते।। शान्तिपर्व 242 150
2 डायलाग ऑफ द बुद्ध । खण्ड 1 पृ0 212
3 स0 सू0 पृ0 478
4 स0 सू0 पृ0 479
5 अन्तिम युग मस्करिणा नित्यनित्य वस्तुविवेकादिसाधनचतुष्टयाभिधानम् तच्च तत्त्वातत्वविवेकाभाव रागद्वेषादि साधनसम्पत् लौकिकवैदिकधर्मानुष्ठानवैमुख्य बुमुक्षुत्व चेति यथानुष्ठान विपरिणामेन परिहसन्ति ।
स0 सू0 पृ0 321
6 स0 सू0 पृ0 487
7 स0 सू0 पृ0 487
8 स0 सू0 पृ0 673
9 स0 सू0 पृ0 736
10 स0 सू0 पृ0 645
11 स0 सू0 पृ0 676
12 स0 सू0 पृ0 609
13 स0 सू0 पृ0 681
14 स0 सू0 पृ0 682
15 स0 सू0 पृ0 684
16 स0 सू0 पृ0 105
17 स0 सू0 पृ0 554
18 स0 सू0 पृ0 557
19 स0 सू0 पृ0 564
20 स0 सू0 पृ0 572
21 स0 सू0 पृ0 573

सप्तम अध्याय

(क) उपसहार

(ख) सङ्केताक्षर

(ग) अधीत ग्रन्थ सूची

उपसंहार

'सकल्पसूर्योदय' नाटक विशिष्टाद्वैत दर्शन प्रतिपादनपरक है। इसकी रचना के विषय में परम्परानुगत एक किवदन्ती भी श्री वैष्णव जगत् में प्रचलित है। एक बार अद्वैत दर्शन के महापण्डित और प्रबोधचन्द्रोदय नामक प्रतीक नाटक के रचयिता श्री कृष्ण मिश्र श्रीरगम् आए। वहा वेदान्तदेशिक के साथ उनका शास्त्रार्थ हुआ । अन्त में कृष्ण मिश्र पराजित हो गये तो उन्होंने अपना वैशिष्ट्य सिद्ध करने के लिए अपने प्रतीक नाटक प्रबोधचन्द्रोदय को वेदान्तदेशिक के समक्ष प्रस्तुत किया। वेदान्तदेशिक ने दूसरे दिन अपनी प्रतीक नाट्यकृति सकल्पसूर्योदय को प्रस्तुत करने का वचन दिया। एक रात्रि में सकल्पसूर्योदय की रचना करके कवि ने कृष्ण मिश्र के समक्ष दूसरे दिन अपनी कृति को रख दिया और समुपस्थित विद्वन्मण्डली के साथ-साथ कृष्णमिश्रको भी आश्चर्य में डाल दिया।

वस्तुत इस किवदन्ती की पुष्टि के विषय में कोई ऐतिहासिक तथ्य नहीं है क्योंकि कृष्ण मिश्र का काल 1097 से 1165 ई तक है। इसी अवधि में प्रबोधचन्द्रोदय की रचना हुई होगी। वेदान्तदेशिक का काल 1268 से 1369 ई तक है अत उन दोनों का शास्त्रार्थ आदि घटना का कोई सामजस्य नहीं है किन्तु इतना तो निर्विवाद सत्य है कि प्रबोधचन्द्रोदय नाटक से प्रेरित होकर ही वेदान्तदेशिक ने सकल्पसूर्योदय की रचना की है। हो सकता है कि किसी अन्य अद्वैती विद्वान् ने शास्त्रार्थ के अवसर पर प्रबोधचन्द्रोदय नाटक को उद्धृत किया हो, अथवा वेदान्तदेशिक उसे पढ़कर स्वय प्रभावित हुए हों, और दृश्यकाव्य की प्रभावोत्पादकता को ध्यान में रखकर विशिष्टाद्वैत दर्शन के प्रतिपादनार्थ इस प्रतीक नाटक की रचना

में प्रवृत्त हुए हों।

जैसा कि ऊपर विचार किया जा चुका है नाट्यत्व के लिए उपयोगी सभी विशेषतायें इस नाटक में विद्यमान हैं, किन्तु सामान्य दृष्टि से ही देखने पर इसमें कुछ त्रुटिया प्रतीत होती है जो कि इसकी अभिनेयता में दूषणस्वरूप है।

सर्वप्रथम तो यह 10 अको का एक विशाल नाटक है जिसके आमूलचूल अभिनय के लिए लगभग 5 घटे का समय अपेक्षित है। इतनी दीर्घ अवधि तक समाहित चित्त होकर अभिनय दर्शन द्वारा रसास्वादन करना सामान्य दर्शक के लिए सभव नहीं है।

दूसरे इसमें बहुत लम्बे कथनोंपकथनों का प्रयोग किया गया है। गद्यखण्डों से सम्पृक्त 5 से 8 श्लोकों तक के कथनों का मिलना तो साधारण बात है। पचम अक में अनेक विस्तृत गद्यखण्डों से युक्त 25 श्लोकों द्वारा दर्प का कथन तथा दशम अक में विष्णुभक्ति का उसी प्रकार 19 श्लोकों द्वारा कथन सामान्य दर्शक या श्रोता के मन में अरुचि उत्पन्न कर देता है। साथ ही रगमच पर उपस्थित अन्य पात्रों के लिए भी सिर और हाथ हिलाकर समर्थन करते रहने के अतिरिक्त कुछ भी करणीय नहीं रहता और वे निष्क्रिय से खड़े रहते हैं।

तीसरे दर्शन जैसे दुरूह विषय का अभिनय द्वारा सामान्य लोगों में प्रचार करने के लिए सरल एव ललित भाषा की आवश्यकता थी। कवि ने इस ओर ध्यान नहीं दिया है और उसकी परिपक्वावस्था की परिष्कृत रचना के अनुरूप ही इसकी भाषा और विषयवस्तु प्राजल और गम्भीर हो गई है। इन पर थोड़ा गम्भीरता से विचार करें तो ये आक्षेप सामान्य नाटकों के लिए दोषरूप में उपस्थापित किये जा सकते हैं, किन्तु जब हम संकल्पसूर्योदय नाटक के रचयिता, विषयवस्तु, प्रयोजन और बोधव्य अथवा दर्शकों पर विचार करते हैं तो ये सभी

तथाकथित दोष उसके गुण के रूप में परिणत हो जाते हैं।

वेदान्त शास्त्र में निष्णात कवि ने समस्त प्राणियों पर अनुग्रह करते हुए अपनी वेदान्तविहारिणी बुद्धि से परिमार्जित कर पूर्वाचार्यो के मत का प्रतिपादन इस नाटक में किया है-

श्रुतिकिरीटविहारजुषा धिया
सुरभितामिह नाटकपद्धतिम्।
मुहुरवेक्ष्य विवेकमुपघ्नयन्
मतमपश्चिमयामि विपश्चिताम्।। स सू 1/7

कवि को स्वय सन्देह होता है कि न्याय वेदान्तावगाहिनी उसकी सरस्वती का रसास्वादन या अभिनय सामान्य जन कर सकेगें। नटी द्वारा वह अपनी आशका स्वय व्यक्त करता है-

'आर्य कथ नामेतस्य एकान्तनिगमान्तवितानसदितमानसस्य कर्कशतरतर्ककुलिशनिस्त्रटित पाषण्डद्रमषण्डा भारती अस्मादृशकेलियोग्य रूपक कुर्यात[1] ?'

कवि इसका समाधन भी प्रस्तुत करता है। उसके समाधान को पढ़ते ही श्रीहर्ष की ये पक्तिया मानस पटल पर उभर आती है-

साहित्ये सुकुमारवस्तुनि दृढन्यायग्रहग्रन्थिले
तर्के वा मयि सविधातरि सम लीलयते भारती।
शय्या वास्तुमृदूत्तरच्छदवती दर्भाकुरै सस्थिता
भूमिर्वा दयितोपभोगसमये तुल्यारतिर्योषिताम्।।

सूत्रधार पहले तो नटी के इस कथन पर आक्षेप करता है कि क्या तुम वेदान्तदेशिक को वैषयिक व्यवहारों का परित्याग करने वाला, ब्रह्मानुभव में एकाग्रचित विधिनिषेध मर्यादा से रहित समझती हो[1] और फिर अधोलिखित दो श्लोको द्वारा दृष्टान्त परिपुष्ट उसकी उक्ति धारा इस शकाकलक पक्र का प्रक्षालन कर देती है। वह कहता है-

मनुव्यासप्राचेतसपरिषदर्हाक्व चिदिय

सुधासिक्ता सूक्ति स्वयमुदयमन्विच्छति जने।

निरुन्ध्यु के विन्ध्याचल विकट सन्ध्यानट जटा-

परिभ्रान्ता पगोरूपरि यदि गगा निपतति।।

स सू 1/16

और भी देखिये-

गम्भीर भीषणगतिर्गिरिखण्डनादौ

चूडापद पशुपतेरपि धर्णयन्ती।

स्वादुप्रसन्नसुभगानि वसुन्धराया

स्रोतासि दर्शयति किनु सुरस्रवन्ती।। स सू 1/17

इसका विशाल कलेवर भी शान्तरसानुकूल एव दर्शन जिज्ञासु, सम्प्रदायनिष्ठ, भगवद्भक्त दर्शकों की रूचि के अनुरूप ही है। इस अर्थवादी युग में भी चार साढ़े चार घण्टे तक दिखाये जाने वाले चलचित्रों में अथवा रातभर चलने वाले नाट्कादि के अभिनयों और कौव्वाली आदि की प्रतियोगिताओं में दर्शकों की कमी नहीं रहती है। रसानुभूतिकाल में दर्शकों को समय का ध्यान नहीं रहता है। वह तो अधिक से अधिक अवधि तक ब्रह्मानन्द सहोदर का आस्वादन करना चाहता है। इसके अतिरिक्त 10 अक तक के नाटक और रूपक तो लक्षणानुसार ही है।

विस्तृत कथनोपकथन तो श्रव्य काव्य में वक्तृबोधव्य वैशिष्ट्य से गुण के रूप में आ ही सकते हैं, दृश्यकाव्य में भी दर्प जैसे वक्ता द्वारा वागाडम्बर का विस्तार और विष्णुभक्ति जैसी मगलकारिणी द्वारा भावधारा के दृढ़ीकरण हेतु दीर्घकथन भी उचित कहा जा सकता है।

'सकल्पसूर्योदय' नाटक के अन्त में कवि के ये वचन कि कोई इसकी प्रशसा करे या निन्दा करे अथवा सामान्य भाव से ग्रहण करे, भगवद्ध्यानानन्द में लीन हमारा क्या बिगड़ता है। जिनके हम हैं और जो हमारे हैं उन वेदान्त पथ में परिनिष्ठ शिष्यों में आनन्द प्रवाहित करने में यह सर्वथा समर्थ ही है, दूसरे ढोंगियों से क्या लेना देना।

स्तोतु निन्दितुमस्मदुक्तमथवा सोढु समूढ जगत्
कि नश्छिन्नमनन्तचिन्तनरसे सुस्थेसुख तस्थुषाम्।
शिष्या शिक्षितबुद्धय श्रुतिपथे येषा वय ये च न-
स्तत्सतोष समर्पणक्षममिद साडम्बरै कि परै ।।

सकल्प सूर्योदय

अपने प्रयोजन में कवि सर्वथा सफल भी हुआ है। प्रपत्ति या भगवद्भक्ति के साथ-साथ रामानुज दर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों का नाट्य मुखेन प्रतिपादन कवि की एक महती उपलब्धि है। दक्षिण भारत में श्री वैष्णव आचार्यो और उनके शिष्यों द्वारा अनेक बार इसका सफल अभिनय इसकी उत्कृष्टता और लोकप्रियता को द्योतित करता है।

जैसा कि इस नाटक के नाम से ही विदित है- 'सत्यसकल्प भगवान का दृढ़ निश्चयरूप यह सकल्प कि "इसको मुक्त करूँगा" ही मुमुक्षुओं का मोक्षसाधन है' इत्यादि उपनिषद् सिद्धान्त ही इस ग्रन्थ का प्रधान प्रतिपाद्य विषय है। जिस प्रकार सूर्य के उदय होने से अन्धकार समूल नष्ट हो जाता है और चतुर्दिक प्रकाश ही प्रकाश छा जाता है, उसी प्रकार भक्ति प्रपत्ति से प्रीत भगवान् के सकल्प का उदय होने पर अनादिकाल से चला आ रहा पुरुष का मोहान्धकार पूर्णतः विनष्ट हो जाता है और मुक्त पुरुष यथेष्ट मोक्ष

साम्राज्य को प्राप्त करता है। यही रामानुज दर्शन का सिद्धान्त रहस्य है और वेदान्त का प्रतिपाद्य विषय भी। जैसा कि मुण्डकोपनिषद् (3-2-3) में प्रतिपादित है-

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवेष वृणुते तेन लभ्यस्तस्येष आत्माविवृणुते तनू स्वाम्।।

इसका तात्पर्य यह है कि जिस उपासक पुरूष को परमात्मा वरण करता है अर्थात् 'यह मुक्त हो जाय' इत्यादि रूप से अपनेसकल्प का विषय बनाता है उसी पुरूष द्वारा वह प्राप्य है और उसी पुरूष को परमात्मा स्वपापात्म्य को प्रकाशित करता है अर्थात् स्वानुभव उत्पन्न करता है।

इसी प्रकार तैतिरीयोपनिषद् (2-10-1) की अधोलिखित श्रुति से भी यह बात सिद्ध होती है कि परमात्मा के प्रसादमूलक सकल्प से ही पुरूष वीतशोक अर्थात् मुक्त होता है।

अणोरणीयान् महतो महीयानात्मा गुहाया निहितोऽस्यजन्तो ।
तमक्रतु पश्यति वीतशोको धातु प्रसादान्महिमानमीशम्।।

अत भगवत्सकल्प ही पुरूषों के मोक्ष में हेतु है और भक्ति-प्रपत्ति आदि की मोक्षसाधनता भी भगवत्प्रसाद सकल्प द्वारा ही है।

इसी का प्रतिपादन वेदान्तदेशिक प्रस्तुत नाटक में विवेक के कथन-

पर पद्माकान्त प्रणिपतनमस्मिन् हिततम
शुभस्तत्सकल्पश्चुलकयति ससार जलधिम्।
क्षटित्येव प्रज्ञामुपजनयता केनचिदसा-
वविद्यावेतालीमतिपतति मन्त्रेण पुरूष ।। स सू 1/93

इत्यादि के द्वारा करते हैं। अत प्रस्तुत नाटक का 'सकल्पसूर्योदय' नामकरण स्वसिद्धान्त और प्रतिपाद्य विषय के अनुकूल होने के कारण सर्वथा उचित ही है।

इस नाटक में पुरुष की उपासना से प्रसन्न भगवान् का दिव्य सकल्प सूर्य उदित होता है। वहस्वय अपना परिचय देता है–

'यस्मिन्विस्मयनीयभूमनि मनागुन्मीलिते नैकधा
सिध्यन्त्यस्य सितासितस्य जगत स्वर्गापवर्गादय ।
ऐश सोऽ हमवासरात्ययभवन्मायामहायामिनी–
सत्ताशेषसुषुप्त बोधनपुट सकल्पसूर्योदय ।।

स सू 10/20

और वह कहता है कि आज मैं जीव को मुक्त करूगा–

'मुरमथनसमीक्षाशेखरेण स्वभूम्ना
मुषितनिखिलदोष मोचयिष्यामि जीवम्।। स सू 10/23

उपनिषदों में भगवान् को ही स्वप्राप्ति का उपाय बताया गया है। भगवत् प्रसन्नता के लिए भक्ति और प्रपत्ति को साधन रूप में स्वीकार किया गया है। भक्ति और प्रपत्ति में प्राणी का अधिकार (रूचि) भी सुकृतों के फलोदय पर निर्भर है, किन्तु वहा भी करणकलेवरादि प्रदान करने वाले भगवान् ही हैं–

उपाय स्वप्राप्तेरुपनिषदधीत स भगवान्
प्रसत्त्यै तस्योक्ते प्रपदननिदिध्यासनगती।
तदारोह पुस सुकृतपरिपाकेन महता
निदानं तत्रापि स्वयमखिलनिर्माणनिपुण ।।

स सू 10/31

इस प्रकार सर्वत्र भगवान् की या उनके सकल्प की महिमा अक्षुण्ण रूप से बनी हुई है।

भगवत्सकल्पानुसार उपासक अर्चिरादि मार्ग से परमपद प्राप्त करता है और फिर कर्म परवश होकर ससार में नहीं आता है इत्यादि का सम्यक् प्रतिपादन किया गया है।

इस प्रकार 'सकल्पसूर्योदय' नाटक को स्वनामानुकूल प्रतिपाद्य विषयों से अलङ्कृत अथवा विशिष्टाद्वैत दर्शन के सिद्धान्तों से विभूषित सुकुमार मति मुमुक्षुजनोपयोगी एक उत्कृष्ट रचना कहना सर्वथा उचित है।

संङ्केताक्षर

१	स०सू	-	सकल्प सूर्योदय
२	ऋ०वे०	-	ऋग्वेद
३	या०	-	यादवाभ्युदय
४	ऐ०ब्रा०	-	ऐतरेय ब्राह्मण
५	कठ०	-	कठोपनिषद्
६	छा०	-	छान्दोग्योपनिषद्
७	वृह०	-	वृहदारण्यकोपनिषद्
८	भा०पु०	-	भागवत् पुराण
९	बा०रा०	-	बाल्मीकि रामायण
१०	ह०स०	-	हस सन्देश
११	म०भा०	-	महाभारत
१२	वि०पु०	-	विष्णुपुराण
१३	ब्र०सू०	-	ब्रह्मसूत्र
१४	ना०शा०	-	नाट्यशास्त्र
१५	का०प्र०	-	काव्यप्रकाश
१६	द०रू०	-	दशरूपक
१७.	सा०द०	-	साहित्य दर्पण
१८	र०गं०	-	रसगगाधर
१९	वे०सं०	-	वेदार्थसग्रह
२०	स०द०स०	-	सर्वदर्शनसग्रह
२१	सा०का०	-	साख्यकारिका

अधीत ग्रन्थ सूचि

ग्रन्थ		लेखक/प्रकाशक
अमर कोष	-	श्री मन्नलाल अभिमन्यु खेलाडी लाल सस, वाराणसी
अभिनव भारती	-	अभिनव गुप्त कृत गायकवाड ओरियण्टल सीरीज बडौदा
अर्थशास्त्र	-	वाचस्पति गैरोला चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
उत्तर रामचरितम्	-	भवभूति कृत चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
ऋग्वेद	-	सस्कृतिसस्थान, बरेली
ऐतरेय ब्राह्मण	-	गीता प्रेस, गोरखपुर
कठोपनिषद्	-	गीता प्रेस, गोरखपुर
काव्यप्रकाश	-	आचार्य विश्वेश्वर ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी
काव्यानुशासन	-	वाग्भट्ट कृत
कामसूत्र	-	वात्स्यायन प्रणीत चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
कुबलयानन्द	-	स भोला शङ्कर व्यास चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
गीता	-	गीता प्रेस, गोरखपुर
छान्दोग्योपनिषद्	-	गीता प्रेस, गोरखपुर
तैतिरीय उपनिषद्	-	गीता प्रेस, गोरखपुर
दशरूपक	-	डॉ० भोला शङ्करव्यास चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
ध्वन्यालोक	-	डॉ० भोला शङ्करव्यास चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
नाट्यशास्त्र	-	भरतमुनि कृत गायकवाड ओरियण्टल सीरीज बडौदा
नाट्य दर्पण	-	राम चन्द्र गुणचन्द्र प्रणीत

न्यायसिद्धञ्जन	-	श्री नीलमेधाचार्य वाराणसेय सस्कृत वि वि वाराणसी
प्रबोधचन्द्रोदय	-	स रामचन्द्र मिश्र चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
ब्रह्मसूत्र	-	भामती, निर्णय सागर प्रेस बम्बई
भागवतपुराण	-	गीता प्रेस, गोरखपुर
महाभारत	-	गीता प्रेस, गोरखपुर
मुण्डकोपनिषद्	-	गीता प्रेस, गोरखपुर
यादवाभ्युदय	-	स के वेंकटराव श्री आ एस एण्ड सस, मद्रास
रघुवश	-	स ब्रह्मशङ्कर मिश्र चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
रसगगाधर	-	प मदन मोहन झा चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
बाल्मीकी रामायण	-	गीता प्रेस, गोरखपुर
वृहदारण्यकोपनिषद्	-	गीता प्रेस, गोरखपुर
वेदान्तदेशिक	-	डॉ० सत्यव्रत सिह चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
वेदार्थ सग्रह	-	स नीलमेधाचार्य आचार्य पीठ, बरेली
शिवपुराण	-	गीता प्रेस, गोरखपुर
श्वेताश्वर उपनिषद्	-	गीता प्रेस, गोरखपुर
साहित्य दर्पण	-	शालिग्राम शास्त्री मोती लाल बनारसी दास
साख्य कारिका	-	ईश्वर कृष्ण चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
सुभाषित नीवी	-	वेदान्तदेशिक कृत वाणी विलास प्रेस, श्री रगम
हस सन्देश	-	स कृष्ण ब्रहमतन्त्र गवर्नमेन्ट प्रेस मैसूर
संस्कृत हिन्दी कोष	-	वामन शिवराम आप्टे ओरियन्टल बुक सेन्टर, दिल्ली
संस्कृत साहित्य का इतिहास	-	बलदेव उपाध्याय
सस्कृत साहित्य का इतिहास	-	वाचस्पति गैरोला चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
भारतीय दर्शन	-	चन्द्रधर शर्मा